MVS-004
निरुक्त एवं प्रातिशाख्य

खण्ड 1	निरुक्त प्रथम अध्याय	7
खण्ड 2	निर्वचन सिद्धान्त एवं देवस्वरूप	77
खण्ड 3	प्रातिशाख्य: भाग एक	137
खण्ड 4	प्रातिशाख्य: भाग दो	207

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

पाठ्यक्रम-निर्माणविशेषज्ञ-समिति

प्रोफेसर मानसिंह, पूर्व आचार्य, हिमांचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला	प्रोफेसर मालती माथुर निदेशक, मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली
प्रोफेसर राजेश्वर प्रसाद मिश्र पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरूक्षेत्र, हरियाणा	प्रोफेसर विजय शंकर शुक्ल क्षेत्रीय निदेशक, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र क्षेत्रीय केन्द्र, वाराणसी
प्रोफेसर मुरलीमनोहर पाठक, पूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग, दी.द.उ.गो.वि. गोरखपुर वर्तमान कुलपति, श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय कटवारिया सराय, नई दिल्ली	प्रोफेसर रंजीत बहरा संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
प्रोफेसर मनोज मिश्र अध्यक्ष वेद विभाग, केन्द्रीय संस्कृत यूनिवर्सिटी, जम्मू परिसर	प्रोफेसर रामानुज उपाध्याय श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्र संस्कृत विश्वविद्यालय कटवारिया सराय, नई दिल्ली
डॉ. राजेश्वर शास्त्री मुसलगांवकर अध्यक्ष संस्कृत, वेद, ज्योतिर्विज्ञान विभाग विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन	**कार्यक्रम एवं पाठ्यक्रम समन्वयक** **Programme and Course Coordinator** डॉ. देवेश कुमार मिश्र एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृत इंदिरा गॉधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय इग्नू, नई दिल्ली

प्रोफेसर कौशल पंवार

वर्तमान निदेशक

मानविकी विद्यापीठ

इंदिरा गॉधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मुख्य-सम्पादक	**सह-सम्पादक**
प्रोफेसर राजेश्वर प्रसाद मिश्र पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग, कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय ,हरियाणा	डॉ.देवेश कुमार मिश्र एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृत, मानविकी विद्यापीठ इंदिरा गॉधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम-लेखक

लेखक	**खण्ड**	**इकाई**
प्रोफेसर प्रयाग नारायण मिश्र, संस्कृत विभाग इलाहाबाद, केन्द्रीय विश्वविद्यालय, प्रयागराज	01	01
डॉ अभिजित् दीक्षित, सहायक आचार्य , इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, क्षेत्रीय केन्द्र वाराणसी	01	02 से 05

डॉ शिल्पा सिंह वरिष्ठ सहायक आचार्य ,संस्कृत विभाग,कला संकाय बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी	02	01,02
डॉ राजेश सरकार ,सहायक आचार्य संस्कृत विभाग ,कला संकाय बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी	02	03 ,04
डॉ योगेन्द्र कुमार तिवारी, सहायक आचार्य एवं संस्कृत विभागाध्यक्ष नेशनल पी.जी. कॉलेज बड़हलगंज, गोरखपुर।	02	05
डॉ अजय कुमार मिश्र, सहायक आचार्य संस्कृत, एवं प्राचार्य जवाहरलाल नेहरू स्मारक पीजी कॉलेज महराजगंज,उ0 प्र0	03	01 से 05
डॉ शिल्पा सिंह वरिष्ठ सहायक आचार्य ,संस्कृत विभाग,कला संकाय बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी	04	01 से 05

कार्यालयीय सहयोग:

जानकी भट्ट, मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

सामग्री निर्माण

श्री तिलक राज
सहायक कुलसचिव, इग्नू, नई दिल्ली

जनवरी, 2023

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2023

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। मानविकी विद्यापीठ एवं इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के बारे में विश्वविद्यालय कार्यालय मैदान गढ़ी नई दिल्ली से अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से कुलसचिव, सामग्री निर्माण एवं वितरण प्रभाग, इग्नू द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित

लेजर टाइप सेटिंग : टेसा मीडिया एण्ड कंप्यटूर, C-206, A.F.Enclave-II, नई दिल्ली

मुद्रक :

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

विषय-सूची

खण्ड 1	**निरुक्त प्रथम अध्याय**	**9**
इकाई 1	निरुक्त एवं निघण्टु का सम्बन्ध, निरुक्तकार का परिचय	**11**
इकाई 2	निरुक्त : चार पद, षड् भावविकार, वेद की अर्थवत्ता	**20**
इकाई 3	उपसर्ग एवं निपातों का परिचय, उपसर्ग विषयक मत	**42**
इकाई 4	निरुक्त का प्रयोजन	**62**
इकाई 5	भाषाविज्ञान के मूल सिद्धान्त	**80**
खण्ड **2**	निर्वचन सिद्धान्त एवं देवस्वरूप	**97**
इकाई 1	निर्वचन की भारतीय परम्परा एवं यास्क का निर्वचन सिद्धान्त	**99**
इकाई 2	मन्त्र एवं उनके विविध प्रतिपाद्य	**109**
इकाई 3	यास्क के अनुसार पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युस्थानीय देवताओं का स्वरूप एवं प्रकार	**121**
इकाई 4	देवता आकार चिन्तन	**136**
इकाई 5	अग्नि, वैश्वानर, जातवेदस्, मातरिश्वन् का स्वरूप निरूपण	**157**
खण्ड **3**	प्रातिशाख्य भाग एक	**175**
इकाई 1	प्रातिशाख्य का अर्थ प्रयोजन एवं शाखागत प्रातिशाख्यों का परिचय	**177**
इकाई 2	ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार संज्ञाएं	**186**
इकाई 3	ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार परिभाषाएं	**201**
इकाई 4	ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार वैदिक स्वर-उदात्त, अनुदात्त, स्वरित	**208**
इकाई 5	प्रातिशाख्यों के अनुसार स्वर- व्यञ्जन सन्धि	**219**
खण्ड **4**	प्रातिशाख्य भाग दो	**245**
इकाई 1	ऋक् प्रातिशाख्य-शिक्षा पटल	**247**
इकाई 2	प्रातिशाख्यों के अनुसार वेदाध्ययन प्रक्रिया	**258**
इकाई 3	वाजसनेयि प्रातिशाख्य का प्रतिपाद्य एवं देवता	**270**
इकाई 4	शौनक कृत वृहद्देवता के अनुसार वेद एवं वैदिक देवता	**283**
इकाई 5	अनुक्रमणी साहित्य का परिचय	**297**

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

पाठ्यक्रम परिचय

वैदिक अध्ययन में एम.ए. कार्यक्रम के चतुर्थ पाठ्यक्रम में आपका स्वागत है। इस पाठ्यक्रम की विषयवस्तु का वर्णन चार खण्डों में समाहित है। निरुक्त एवं प्रातिशाख्य इस पाठ्यक्रम का नाम है। प्रथम खण्ड के अध्ययन के लिए आपके समक्ष पॉच इकाइयों में विषयवस्तु का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। यह खण्ड निरुक्त प्रथम अध्याय के विवेचन का है। इसकी पहली इकाई में आप निरुक्त एवं उसके रचनाकार का परिचय प्राप्त करेंगें। अगली इकाई में चार पद, छः भाव विकार तथा वेद की अर्थवत्ता का वर्णन है जिसमें आप क्रिया के विकारों का अध्ययन करके जानकारी प्राप्त करेंगें। तीसरी इकाई में उपसर्ग के विषय में विभिन्न मत और निपातों का परिचय प्रस्तुत है। निरुक्त क्यों लिखा गया इसका प्रयोजन क्या है, यह तथ्य आपको इस खण्ड की चौथी इकाई के अध्ययन से प्राप्त होगा। पॉचवीं और अन्तिम इकाई भाषा विज्ञान के मूल सैद्धान्तिक स्वरूप का वर्णन करती है। इस प्रकार प्रथम खण्ड में आप निरुक्त के प्रथम अध्याय के बहुत व्यापक विषय को पॉच शीर्षकों में ही अध्ययन करके जानेगें। द्वितीय खण्ड निर्वचन सिद्धान्त एवं देवस्वरूप का है। यह खण्ड भी व्यापक विषय वाला है। इसमें निर्वचन की भारतीय परम्परा का वर्णन किया गया है। इसी के साथ आप यास्क के निर्वचन सिद्धान्त सम्बन्धी सभी मान्यताओं को जानेगें, तथा इस पूरी परम्परा से परिचित हो पाएंगें। वेद में मन्त्र पाये जाते हैं। इनकी सार्थकता के विषय में यास्क ने बहुत विचार किया। उदाहरण के लिए अग्नि, यदि लोक में सार्थक है तो वेद में भी सार्थक होना चाहिए। इसी के लिए द्वितीय खण्ड में मन्त्र एवं उनके विविध प्रकार के मत मतान्तरों का विस्तार से वर्णन प्रस्तुत किया गया है ,जिससे मन्त्रों के विषय में भ्रान्ति दूर हो सके। पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि में रहने वाले देवताओं का वर्णन भी इस ग्रन्थ में मिलता है। जिसका विवेचन आपको पढ़ने के लिए प्राप्त होगा। देवताओं के आकार के विषय में भी इन ग्रन्थों में विचार–विमर्श किया गया है। प्रायः कपोल कल्पना कहकर इन सब बातों के विषय में भ्रम बना रहता है। इन तथ्यों का अध्ययन करके आपको देवता आकार चिन्तन का अध्ययन कराना अभीष्ट है। अग्नि, वैश्वानर, जातवेदस, मातरिश्वन् आदि नामों वाले देवता के विभिन्न प्रकार के स्वरूप का चिन्तन भी हमारी आचार्य परम्परा ने किया है। द्वितीय खण्ड का वर्णन आपको उपर्युक्त सभी तथ्यों की प्रामाणिक जानकारी प्रदान करेगा। इसी क्रम में प्रातिशाख्यों का वर्णन आगे के दो खण्डों में प्रस्तुत है। भाग एक में अर्थ, प्रयोजन और इनके शाखागत स्वरूपों की जानकारी पर चर्चा की गई है। ऋग्वेद का अपना प्रातिशाख्य है। इसमें अलग–अलग वर्णन प्राप्त होते हैं। संज्ञाओं के वर्णन अलग है, परिभाषाओं के वर्णन भी अलग हैं। वैदिक स्वर जैसे–उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि भी विषय विवेचन में सम्मिलित हैं। प्रातिशाख्यों में सन्धियों का वर्णन भी आता है। जिसका अध्ययन आप तीसरे खण्ड के अन्तिम भाग में करेंगें। ऋग्वेद के प्रातिशाख्य का शिक्षा पटल भी है। शिक्षा पटल में ज्ञानात्मक चर्चा की गई है। वेद का अध्ययन करने की प्रक्रिया के सन्दर्भ में भी इसी खण्ड में विषय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रातिपाद्य विषय के रूप में प्रातिशाख्यों में देवता का वर्णन भी किया गया है। वेद के और वैदिक देवता के विषय में पूरी परम्परा में ऋषि तत्व ने तो काम किया ही है। किन्तु वेद के कठिन बोध को सरल बनाने के लिए कुछ प्रमुख आचार्यों ने अपनी प्रतिभा के द्वारा जिन ग्रन्थों को हमारे समक्ष दिया है, वे उपकार स्वरूप हैं। किसी ने वेद के अध्ययन की पद्धति पर विचार किया है तो किसी ने मन्त्र के स्वरूप पर। वेदांगों के विषय में भी इसी प्रकार की स्थिति है। शास्त्र अध्ययन कराने के लिए आचार्यों कि एक लम्बी सूची है। आचार्य शौनक ने वृहद्देवता में बहुत विस्तार से

विचार किया है। उन्होंने अपनी दृष्टि से वेद को देखा और वैदिक देवताओं को भी। उनके मत के अनुसार आपको उन सभी तथ्यों का शास्त्रीय मत से प्रामाणिक अध्ययन प्राप्त होगा। अनुक्रमणी साहित्य का परिचय जानना भी इस पाठ्यक्रम के अध्ययन के लिए बहुत आवश्यक था। उक्तानुसार आप बीस शीर्षकों में ही अत्यन्त विस्तृत विषय का सरलतम तरीके से अध्ययन करने का लाभ प्राप्त करेंगें ऐसी आशा है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खण्ड 1
निरुक्त : प्रथम अध्याय

खण्ड एक का परिचय

निरुक्त प्रथम अध्याय, इस खण्ड का नाम है।वेद तथा वैदिक धर्म और संस्कृति ही विश्व की सबसे प्राचीन धर्म तथा संस्कृति है जिसका ज्ञान सर्वप्रथम वेदों से ही होता है। वैसे तो वेद को शब्दप्रधान मानकर प्राचीन आचार्यो ने वेद–मन्त्रों के अर्थरहित होने तक की आंशका की है परन्तु शब्द और अर्थ के नित्यसम्बन्ध के कारण वह वेद जो अपौरुषेय, नित्य या ईश्वर–कृत हैं वह भला अर्थ–हीन कैसे हो सकते हैं। इसीलिए वेदों के अर्थ–चिन्तन की परम्परा प्रारम्भ हुई इस क्षेत्र में सर्वप्रथम ऋषियों ने वेद के विशिष्ट शब्दों का संग्रह किया जिसे निघण्टु के नाम से जाना जाता है इसी निघण्टु के टीका ग्रन्थ का नाम निरुक्त है।

निघण्टु तथा निरुक्त में पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। कतिपय आचार्य निरुक्तकार यास्क को ही निघण्टु का रचयिता भी मानते हैं। निघण्टु का सम्बन्ध जानने से पूर्व निरुक्त तथा निघण्टु के सामान्य परिचय का ज्ञान आवश्यक है। निरुक्त के प्रथम अध्याय में मूल ग्रन्थ में तो विषयों का विवेचन दूसरी प्रकार से प्राप्त होगा किन्तु यहां पर अध्ययन की सुविधा के लिए 5 शीर्षकों में विषयवस्तु के विवेचन का प्रस्तुतीकरण किया गया है। निरुक्त के रचयिता का परिचय, निघण्टु का सम्बन्ध, चार पद, भाव विकार, वेद की अर्थपरकता के विवेचन के साथ–साथ उपसर्गों का, निपातों का परिचय दिया गया है। निरुक्त का प्रयोजन बताना भी इस खण्ड के वर्णन में आवश्यक है। भाषा विज्ञान के मूल में निरुक्त है। इस तथ्य के समर्थन के लिए भाषा विज्ञान के मूल सिद्धान्त के रूप में आप के अध्ययन के लिए वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस खण्ड की निम्नलिखित इकाइयां है –

इकाई 1. निरुक्त एवं निघण्टु का सम्बन्ध, निरुक्तकार का परिचय

इकाई 2. निरुक्त : चार पद,षड् भावविकार, वेद की अर्थवत्ता

इकाई 3. उपसर्ग एवं निपातों का परिचय, उपसर्ग विषयक मत

इकाई 4. निरुक्त का प्रयोजन

इकाई 5. भाषाविज्ञान के मूल सिद्धान्त

इस प्रकार प्रथम खण्ड के अध्ययन से आप निरुक्त के प्रथम अध्याय में वर्णित विभिन्न विषयों की जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् उनकी व्याख्या करने मैं सक्षम हो सकेंगे।

इकाई 1 निरुक्त एवं निघण्टु का सम्बन्ध, निरुक्तकार का परिचय

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 निरुक्त एवं निघण्टु का सम्बन्ध

- 1.2.1 निघण्टु का सामान्य परिचय
- 1.2.2 निघण्टु का रचनाकार तथा रचनाकाल
  - 1.2.2.1 निघण्टु का प्रणेता अज्ञात है
  - 1.2.2.2 निघण्टु के प्रणेता कश्यप
  - 1.2.2.3 यास्क ही निघण्टु के प्रणेता है
- 1.2.3 निघण्टु–भाष्य
- 1.2.4 निरुक्त का सामान्य परिचय
  - 1.2.4.1 निरुक्त का प्रतिपाद्य विषय
  - 1.2.4.2 निरुक्त के टीकाकार

1.3 निरुक्तकार का परिचय तथा काल

1.4 सारांश

1.5 सन्दर्भग्रन्थ

1.6 बोधप्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

1. वेद भाष्य की प्रारम्भिक परम्परा से अवगत हो सकेगें
2. सर्वप्रथम वैदिक शब्द–कोष से परिचित हो सकेगें
3. निघण्टु तथा निरुक्त से परिचित होगें
4. निघण्टु तथा निरुक्त के प्रणेता यास्क से परिचित होगें
5. वैदिक अध्ययन में यास्क के अवदान से परिचित होगें
6. संस्कृत शब्दों की व्यावहारिकता तथा वैज्ञानिकता से परिचित होगें।

1.1 प्रस्तावना

भारतीय धर्म और संस्कृति के सर्वप्रथम ज्ञान कोश के रूप में वेदों की सर्वप्रथम स्थिति से सभी परिचित हैं। वेद तथा वैदिक धर्म और संस्कृति ही विश्व की सबसे प्राचीन धर्म तथा संस्कृति हैं, जिसका ज्ञान सर्वप्रथम वेदों से ही होता है। वैसे तो वेद को शब्दप्रधान मानकर प्राचीन आचार्यो ने वेद–मन्त्रों के अर्थरहित होने तक की आंशका की है परन्तु शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध के कारण वह वेद जो अपौरुषेय, नित्य

या ईश्वर–कृत हैं वह भला अर्थ–हीन कैसे हो सकते हैं। इसीलिए वेदों के अर्थ–चिन्तन की परम्परा प्रारम्भ हुई इस क्षेत्र में सर्वप्रथम ऋषियों ने वेद के विशिष्ट शब्दों का संग्रह किया जिसे निघण्टु के नाम से जाना जाता है इसी निघण्टु के टीका ग्रन्थ का नाम निरुक्त है।

अतः निघण्टु तथा निरुक्त में पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। कतिपय आचार्य निरुक्तकार यास्क को ही निघण्टु का रचयिता भी मानते हैं। अतः निघण्टु तथा निरुक्त का सम्बन्ध तथा निरुक्त का परिचय प्रदान करने हेतु यथोपलब्ध पाठ्य सामग्री प्रस्तुत इकाई में प्रस्तुत की जा रही है।

1.2 निरुक्त एवं निघण्टु का सम्बन्ध

निरुक्त एवं निघण्टु का सम्बन्ध जानने से पूर्व निरुक्त तथा निघण्टु के सामान्य परिचय का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि किसी के परिचय के बिना उनके मध्य क्या सम्बन्ध है यह नहीं जाना जा सकता है। परिचय के क्रम में भी परिचय योग्य तथ्यों में पौर्वापर्य अर्थात् कौन पहले तथा कौन बाद में है यह ज्ञान भी आवश्यक है। अतः यह स्पष्ट है कि सर्वप्रथम जिस ग्रन्थ की टीका लिखी जायगी वह ग्रन्थ टीका ग्रन्थ से पूर्ववर्ती या पूर्व अस्तित्व में होगा। अतः यह सर्वथा सिद्ध है कि जिस भी कालखण्ड में प्रणीत हो निघण्टु निरुक्त से प्राचीन तथा प्रथम है। तदनन्तर उसके भाष्य ग्रन्थ के रूप में निरुक्त की रचना यास्क द्वारा की गयी। अतः इन दोनों के सम्बन्ध पर विचार करने से पूर्व सर्वप्रथम क्रमशः निघण्टु तथा निरुक्त का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है–

1.2.1 निघण्टु का सामान्य परिचय

संस्कृत वाङ्मय के बृहद् इतिहास में अनेक तरह के उपक्रम देखने को मिलते हैं। इन्हीं उपक्रमों में कोश रचना की विशाल परम्परा भी दिखायी पड़ती है जिसे निघण्टु रचना के प्रथम प्रयास से प्रारम्भ माना जा सकता है। अतः कोश–रचना के अभी तक के ज्ञात प्रयासों में निघण्टु की रचना सर्वप्रथम मान्य है। डॉ. लक्ष्मण सरूप जी की दृष्टि में 'भारत में तो यह कोश साहित्य के आरम्भ का ही द्योतक है। भारतीय धर्म–दर्शन तथा संस्कृति के सर्वप्रथम ज्ञानराशि के रूप में सर्वविदित वेद के विशिष्ट शब्दों का समुच्चय अथवा संग्रह निघण्टु के नाम से सर्वप्रथम वैदिक शब्दकोश माना जा सकता है।

आदि से लेकर अन्त तक निघण्टु का अध्ययन करने पर विदित होता है कि यह वैदिक शब्दों का पूर्ण कोश नहीं है क्योंकि इसमें किसी भी वेद के समस्त शब्द संग्रहीत नहीं हैं फिर भी विश्व में कोश निर्माण के सर्वप्रथम उपलब्ध प्रमाण के प्रतिमान के रूप में इसकी इतनी प्रतिष्ठा है कि परवर्ती कोशों को निघण्टु की सञ्ज्ञा से ही अभिहित कर दिया गया है।

निरुक्त में निघण्टु के लिए समाम्नाय शब्द का प्रयोग किया है अतः यह तो सर्वथा सिद्ध है कि निघण्टु वैदिक पदों का समाम्नाय है परन्तु वेद के शब्दों की व्याख्या की बात की जाय तो केवल ऋग्वेद में ही लक्षाधिक पदों का सन्निवेश है क्योंकि शाकल्य ने केवल ऋग्वेद के पदो की गणना करके एक लाख तिरपन हजार आठ सौ छब्बीस शब्दो का संकेत किया है जबकि निघण्टु में केवल 1767 शब्दों का ही संग्रह है।

अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विश्व–साहित्य सर्जन के इतिहास में

कोश–साहित्य की प्रथम संकल्पना करने वाला निघण्टु स्वयं में परिपूर्ण भले ही न हो परन्तु वह परवर्ती कोश–रचना का आधारस्तम्भ प्रतिमान अवश्य है।

जिस निघण्टु पर यास्क ने निरुक्त के नाम से भाष्य की रचना की है वह नैघण्टुक, नैगम तथा दैवत नामक तीन काण्डो तथा पाँच अध्यायों में विभक्त है।

नैघण्टुककाण्ड

निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों को नैघण्टु काण्ड कहते हैं जिसका प्रमुख विषय पर्यायवाची शब्द हैं निघण्टु के इन अध्यायों में कुल 1340 शब्द परिगणित हैं। नैघण्टुक काण्ड के इन प्रथम तीन अध्यायों में शब्दों के क्रम की व्यवस्था में किसी सिद्धान्तविशेष का अनुसरण किया जाता हुआ प्रतीत होता है। प्रथम अध्याय में गौ से प्रारम्भ करके प्रथिवी, वायु,जल, तथा प्रकृति से सम्बद्ध 414 पदों के पर्यायवाची शब्दों का निरूपण है। द्वितीय अध्याय में मनुष्य एवं मनुष्य के विविध अंगों तथा उससे सम्बद्ध पदार्थों तथा गुणों के नाम के रूप में 516 पदो का संग्रह है। तृतीय अध्याय में भावात्मक गुणों यथा उरु.पुरु महत् आदि 140 पदों का संकलन है ।

नैगमकाण्ड

निघण्टु के नैगम काण्ड का विषय अनेकार्थवाची शब्द हैं जो किसी के पर्याय न होकर स्वतन्त्र हैं। नैगमकाण्ड के अन्तर्गत चतुर्थ अध्याय आता है निघण्टु के नैगमकाण्ड नामक चतुर्थ अध्याय में जहा, निधा, दमूना इत्यादि 278 या 279 पदों का संग्रह किया गया है। इसमें कुल तीन खण्ड हैं जिसमें क्रमशः 62,84 तथा 132 पदों का संकलन है। निघण्टु के इस नैगम काण्ड को ऐकपदिक काण्ड के नाम से भी जाना जाता है। इस काण्ड के पद प्रायः अज्ञात तथा सन्दिग्ध स्वरूप वाले विशुद्ध वैदिक शब्द ही हैं।।

दैवतकाण्ड

निघण्टु का अन्तिम या पञ्चम अध्याय दैवत काण्ड के नाम से विख्यात है। इसका प्रधान विषय देवता है। इसमें संग्रहीत शब्द भी प्रायः स्वतन्त्र होकर विविध देवताओं के नामों तथा स्तुतियों से सम्बद्ध हैं। इस काण्ड के छः खण्डों में क्रमशः 3, 13, 16, 32, 36 तथा 31 पद मिलाकर कुल 151 पदों का संग्रह है। ऋग्वेद के प्रथम देवता के रूप में अग्नि से प्रारम्भ करके देवपत्नी पर्यन्त देवनामों के संकलन से विभूषित दैवतकाण्ड सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय है।।

1.2.2 निघण्टु का रचनाकार तथा रचना काल

संस्कृत वाङ्मय के इतिहास का अध्ययन करने पर विदित होता है कि निघण्टु के नाम से अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। आज जो निघण्टु हमें उपलब्ध है तथा जिस पर यास्क ने निरुक्त नाम्नी टीका का प्रणयन किया उसके रचनाकार के विषय में अधोलिखित तीन निष्कर्ष दिये जा सकते हैं–

1. निघण्टु के प्रणेता के विषय में निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है
2. निघण्टु की रचना प्रजापति कश्यप ने की
3. निघण्टु भी यास्क द्वारा संग्रहीत है

1.2.2.1 निघण्टु का प्रणेता अज्ञात है

एक शास्त्रीय मान्यता के आधार पर निघण्टु आर्ष ग्रन्थ है। इसके प्रणेता के रूप में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। निरुक्त 1.2. के अनुसार निघण्टु का संग्रह

परवर्ती ऋषियों ने किया जो साक्षातकृत धर्मा नहीं थे।

1.2.2.2 निघण्टु के प्रणेता कष्यप

महर्षि वेद व्यास–प्रणीत महाभारत के मोक्षधर्म पर्व के अध्याय 342 श्लोक 86–87 के अनुसार प्रजापति कश्यप इस निघण्टु के प्रणेता हैं जैसा कि प्रोक्त है–

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्'।।
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह काश्यपो मां प्रजापतिः।।

वर्तमान निघण्टु में वृषाकपि शब्द संग्रहीत है अतः कुछ समीक्षक प्रजापति कश्यप को इसका निर्माता मानते हैं। निघण्टु तथा निरुक्त नामक अपने ग्रन्थ की भूमिका में लक्ष्मणसरूप इस मान्यता से असहमत हैं। उनके अनुसार निघण्टु एक अकेले व्यक्ति की कृति नहीं है अपितु पूरी पीढ़ी या अनेक पीढियों के संयुक्त प्रयत्नों का परिणाम है।

1.2.2.3 यास्क ही निघण्टु के प्रणेता हैं

आचार्य भगवद्दत्त सहित अनेक आचार्य उपर्युक्त दोनों मतों से सहमत न होकर इस मत के समर्थक हैं कि यास्क ही निघण्टु के भी रचयिता हैं। स्वामी दयानन्द ने इस मत का प्रतिपादन किया है तथा पं. भगवद्दत्त जी ने इसके लिए कई प्रभाण दिये हैं। उनमें एक प्रमाण यह भी है कि यास्क को मिलाकर जितने निरुक्तकार हैं वे निघण्टु के भी प्रणेता हैं। मधुसूदन सरस्वती ने शिवमहिम्नस्तोत्र के **त्रयी सांख्यं योगः** इत्यादि पद्य की व्याख्या में स्पष्ट लिखा है कि–

'निघण्टुसञ्ज्ञक पञ्चाध्यात्मको ग्रन्थः भगवता यास्केनेव कृतः'

उमा शंकर शर्मा ऋषि ने अपने निरुक्त की भूमिका पृ 13 पर स्पष्ट लिखा है कि औपमन्यव से लेकर यास्क तथा कौत्सव्य सहित चतुर्दश नैरुक्तों ने अपने अपने निघण्टु बनाये और उस पर ही भाष्य लिखा।

अतः निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि सम्प्रति उपलब्ध एकमात्र निघण्टु स्वयं यास्क द्वारा संग्रहीत होकर निरुक्त के नाम से भाष्य के रूप में प्रमाण में आया। निरुक्त के प्रारम्भ में **निघण्टवः** का बहुवचन में प्रयोग निघण्टु की जातिवाचक संज्ञा की ओर भी संकेत करता है।।

अतः निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि स्वयं यास्क अथवा किसी ऋषि ने परम्परा प्राप्त वैदिक शब्दों का संकलन किया जो निघण्टु के रूप में प्रख्यात है उसी पर यास्क ने निरुक्त का प्रणयन किया जिसपर अन्य भाष्य भी रहे होगें।।

1.2.3 निघण्टु–भाष्य

निरुक्त के अतिरिक्त निघण्टु की एक ही व्याख्या उपलब्ध होती है जिसके प्रणेता का नाम देवराजयज्वा है देवराज ने निघण्टु निर्वचन के नाम से नैघण्टु काण्ड का निर्वचन प्रधानतया किया है। इन्होनें अन्य दोनों काण्डो की व्याख्या संक्षेप में की है। देवराजयज्वा ने अपने भाष्य के उपोद्घात में क्षीरस्वामी तथा अनन्ताचार्य की निघण्टु व्याख्याओं का उल्लेख किया है। क्षीरस्वामी अमरकोष के टीकाकार हैं। परन्तु क्षीरस्वमी

एवं अनन्तचार्य भाष्य की अनुलब्धि की स्थिति में देवराजयज्वा भाष्य ही एकमात्र निघण्टु भाष्य है जबकि निरुक्त निघण्टु का भाष्य होकर भी अपनी अनेक विशेषताओं के कारण एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में सर्वविदित है, जिसका परिचय निम्नवत् है–

1.2.4 निरुक्त का सामान्य परिचय

वेदार्थ–परिज्ञान में अप्रतिम उपयोगी वेदाङ्ग के रूप में निरुक्त वेदांग की वेदांगता सर्वविदित है–

अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्

अर्थात् वेदों के अर्थ–परिज्ञान के लिए स्वतन्त्ररूप से पदों का संग्रह तथा स्वरूप जहाँ प्रोक्त है वह निरुक्त है। वस्तुतः निरुक्त एक जातिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होकर षड्वेदाङ्गों में सर्वश्रेष्ठ वेदाङ्ग के रूप में जाना जाने वाला एक वेदाङ्ग है, परन्तु वैदिक वाङ्मय में यास्क–कृत निरुक्त के रूप में प्रख्यात एक मात्र यही ग्रन्थ एक सम्पूर्ण वेदाङ्ग का प्रतिनिधित्व करता हुआ देखा जा सकता है। निरुक्त वेद के षडङ्गों में अन्यतम है। आजकल यही यास्क–रचित निरुक्त वेदाङ्ग का अप्रतिम प्रतिनिधि ग्रन्थ है जिसमें यथेष्ट रूप से निघण्टु के कतिपय शब्दों की व्याख्या यास्क द्वारा की गयी है।

पाँच अध्यायों वाले निघण्टु के तीनों काण्डो में संग्रहीत वैदिक पदों में से प्रतिवर्ग प्रायः कुछ शब्दों को लेकर भाष्यरचना हेतु कृतसंकल्प महर्षि यास्क के निरुक्त में प्रमुखतया द्वादश अध्याय हैं तथा अन्त में दो अध्याय परिशिष्ट के रूप में दिये गये हैं अतः सम्पूर्ण ग्रन्थ कुल चतुर्दश अध्यायों में विभक्त है। कुछ लोग परिशिष्ट अध्यायों को नवीन या अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु उव्वट ने यजुर्वेद भाष्य में निरुक्त 13/13 के उद्धरणों को प्रस्तुत करके उसकी प्राचीनता को भी प्रमाणित कर दी हैं। अतः काल–क्रम की दृष्टि से निरुक्त उव्वट तथा पाणिनि के ग्रन्थों से प्राचीन एक प्रामाणिक, व्यावहारिक तथा रोचक ग्रन्थ है जो व्याकरण का पूरक होकर स्वार्थसाधक भी है जैसाकि स्वयं यास्क ने **'व्याकरणस्य कार्त्स्यनं स्वार्थसाधकञ्च'** कहकर प्रमाणित भी किया है।

यास्क ने निरुक्त में निघण्टु के सभी शब्दों की व्याख्या नहीं की है। निघण्टु के पाँच अध्यायों में संग्रहीत शब्दों की व्याख्या–हेतु निरुक्त में चतुर्दश विद्यास्थानों की भाँति मानो चतुर्दश अध्यायों की योजना है जबकि निघण्टु के नैघण्टुक काण्ड में संकलित 1340 शब्दों में से मात्र 230 शब्दों की ही व्याख्या यास्क में इन अध्यायों में की है। अध्यायक्रम में निरुक्त का प्रतिपाद्य विषय संक्षेप में द्रष्टव्य है।

1.2.4.1 निरुक्त का प्रतिपाद्य विषय

निरुक्त का प्रारम्भ **समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः** से होकर सर्वप्रथम निघण्टवः पद के निर्वचन से होता है। चतुर्विध पदों के स्वरूप, षड्भाविकार निपात–उपसर्ग, निरुक्त का प्रयोजन तथा उपयोगिता आदि विषयों पर विचार करके द्वितीय अध्याय से निर्वचन शास्त्र का प्रारम्भ होता है। निर्वचन के विविध सिद्धान्तों की सोदाहरण प्रस्तुति करके द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद से निघण्टु के प्रथम पद गौः पद के निर्वचन से प्रारम्भ करके निरुक्त के तीसरे अध्याय तक निघण्टु के नैघण्टुककाण्डो के 1340 शब्दो में से 230 पदों का निर्वचन किया गया है। निरुक्त के चतुर्थ–पञ्चम तथा षष्ठ अध्यायों में निघण्टु के नैगमिक अथवा ऐकपदिक काण्ड के अनवगत संस्कार वाले

शब्दों का निर्वचन किया गया है। यह शब्द मर्या अर्थात् मनुष्य से प्रारम्भ होकर मनुष्य के अवयवों उपयोगी द्रव्यों तथा अन्यपदार्थों के पदों के निर्वचन से तथा व्याख्या से विभूषित हैं। निघण्टु के अन्तिम अर्थात् पञ्चम अध्याय दैवत काण्ड के शब्दों में से अनेक शब्दों का निर्वचन निरुक्त में सप्तम से द्वादश अध्याय पर्यन्त किया गया हैं। देव विज्ञान, देव–परिज्ञान, देव–विभाग, बहुदेववाद, देवस्वरूप आदि विविध अभिमतों की विस्तृत चर्चा करके अग्नि जातवेदस्–वैश्वानर सहित प्रथिवी–अन्तरिक्ष–द्युलोक के देवता से सम्बद्ध एक–एक ऋचाओं के उदाहरण पूर्वक देवतत्त्व का व्यापक निरुपन निरुक्त में किया गया है। विशिष्ट भूमिका के रूप में प्रोक्त त्रयोदश तथा चतुर्दश अध्याय भी निर्वचन तथा भाषा शास्त्र की दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण हैं।

निरुक्त व्याकरण तथा भाषाशास्त्र की दृष्टि से एक अनुपमग्रन्थरत्न है **सर्वाणि नामानि आख्यातजानि** के आधार पर निरुक्त के निर्वचन नितान्त व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक हैं। वैदिक शब्दों की निरुक्ति के साथ–साथ अनेक लौकिक विषयों, पौराणिक उपाख्यानों तथा वैदिक मान्यताओं से भी निरुक्त ओतप्रोत है। व्याकरण तथा भाषाविज्ञान के अनेक मान्य सिद्धान्त निरुक्त में निहित हैं। निरुक्त की इसी महत्ता एव उपयोगिता के कारण इसके स्वयं में भाष्यग्रन्थ होने के बावजूद इस पर अनेक टीकाओं का प्रणयन हुआ है जिसका संक्षिप्त परिचय निम्नवत् द्रष्टव्य है–

1.2.4.2 निरुक्त के टीकाकार

जैसा कि सर्वविदित है कि निघण्टु वैदिक शब्दों का संग्रह है और निरुक्त उसी पर भाष्य। अतः यद्यपि निरुक्त स्वयं व्याख्या रूप में है तथापि यत्र–तत्र आये दुरुह विषयों के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से दुर्गाचार्य, स्कन्दस्वामी तथा महेश्वर आदि आचार्यों द्वारा निरुक्त के भाष्यों का प्रणयन किया गया है जिसका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है–

दुर्गाचार्य

निरुक्त पर लिखे गये भाष्यों में दुर्गाचार्य द्वारा प्रणीत टीका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी है। निरुक्त के पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान में सिद्धहस्त दुर्गाचार्य ने स्थान–स्थान पर दुरूह ग्रन्थियों के रहस्योद्घाटन के साथ–साथ दार्शनिक विवेचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। दुर्गाचार्य प्रणीत ऋज्वर्थनाम्नी टीका विख्यात है।

स्कन्दस्वामी

निरुक्त की अद्यावधि उपलब्ध व्याख्याओं में स्कन्दस्वामीकृत व्याख्या सर्वाधिक प्राचीन है। यद्यपि इनकी व्याख्या दुर्गाचार्य की टीका के समान विस्तृत तथा निरुक्त के प्रत्येक शब्द का उदाहरण देने वाली नहीं है परन्तु इन्होने अत्यन्त सरल शब्दों में द्वादश अध्यायों पर भाष्य किया है। निरुक्त के भाष्यकार ऋग्वेद के भाष्यकार स्कन्दस्वामी ही हैं। स्कन्दस्वामी गुजरात की प्रसिद्ध राजधानी वलभी के निवासी तथा हरिस्वामी के गुरु थे जिन्होने शतपथब्राह्मण पर भाष्य लिखा है।

महेश्वर भाष्य

आचार्यमहेश्वर द्वारा लिखित निरुक्त की टीका के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। डॉ. उमाशंकर शर्मा ऋषि के अनुसार स्कन्दस्वामी की भाँति महेश्वर की टीका को भी पाण्डुलिपियों से संशोधित करके लक्ष्मणसरूप ने प्रकाशित कराया था। महेश्वर ने निरुक्त के टीकाकार के रूप में किसी बर्वरस्वामी के नाम का उल्लेख किया है।

अन्य भारतीय तथा पाश्चात्य भाष्यकार

प्राप्त उल्लेखों के अनुसार सबसे पहले रॉथ ने जर्मन भाषा में निरुक्त को सानुवाद प्रकाशित किया। जर्मन भाषा का अंग्रेजी अनुवाद प्रो. मैकीशान द्वारा किया गया। इसके साथ ही बंगाल के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं. सत्यव्रत सामश्रमी का नाम सादर उल्लेखनीय है उन्होने निरुक्त के सुन्दर व्याख्यान के रूप में निरुक्तालोचन का प्रकाशन किया। इसके अलावा डॉ. लक्ष्मणस्वरूप, प्रो राजवाडे, डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा श्रीविष्णुपद् भट्टाचार्य आदि के साथ उमाशंकर शर्मा तथा कपिल द्विवेदी के नाम निरुक्त के आधुनिक भाष्यकारों में श्रद्धया स्मरणीय हैं।।

1.3 निरुक्तकार का परिचय तथा काल

निरुक्त वेदाङ्ग के एक मात्र प्रतिनिधि–ग्रन्थ निरुक्त के प्रणेता आचार्य यास्क के परिचय के विषय में स्वल्प सामग्री ही प्राप्त होती है। इनकी एक मात्र रचना निरुक्त ही इनके परिचय का अन्तः सक्ष्य है। अन्तः साक्ष्यों की अत्यल्प समुपलब्धि के कारण इनके विषय में अधिक तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। पं. भगवद्दत्त जी ने वैदिकवाङ्मय के बृहद् इतिहास के वैदिकभाष्यकार प्रखण्ड में शाकटायन व्याकरण का एक अंश उद्घृत करके लिखा है–

यस्कस्यापत्यं यास्कः। यास्कस्यापत्यं यास्कायनि

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह किसी महाविभूति यस्क के पुत्र थे। परन्तु वैदिकवाङ्मय यास्क नामक किसी महाविभूति से परिचित नहीं है। पं. भगवद्दत्त जी ने अपने इतिहास ग्रन्थ में अनेक मतों की उपस्थापना करके मधुसूदन सरस्वती के मत को व्यक्त करते हुए स्पष्ट लिखा है कि पाँच अध्यायों वाले निघण्टु नामक ग्रन्थ की रचना निरुक्तकार यास्क ने ही की है–

निघण्टुसञ्ज्ञकः पञ्चाध्यात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केनैव कृतः

दयानन्दसरस्वती ने भी निघण्टु की भूमिका में लिखा है कि मूलग्रन्थ निघण्टु तथा इसका भाष्यग्रन्थ निरुक्त दोनों ही यास्क मुनि जी ने बनाये हैं। ऋग्वेद के 7/87/4 मन्त्र की व्याख्या में वेंकटमाधव ने भी निघण्टु के गोशब्द को पृथिवी के 21 नामों में पठित मानकर इसे यास्क द्वारा अङ्गीकृत माना है। अतः निरुक्त अथवा निघण्टु दोनों में से किसी के भी प्रणेता होने पर भी यास्क की प्राचीनता सिद्ध होती है।

अतः महाभारत के शान्तिपर्व अध्याय 342 के 72–73 वे श्लोक में पठित यास्क को इन्हीं यास्क के रूप में स्वीकार किया जा सकता है–

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम्।।
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः।
यत्र प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान्।।

बृहद् देवता में यास्क का स्मरण किया है। अतः स्पष्ट है कि महर्षि यास्क का समय महाभारत काल आचार्य पाणिनि तथा शौनक से भी पूर्व का है।

न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति कास्क : इत्यादि उदाहरणों सहित अनेक समीक्षाओं से यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि यास्क को विक्रम से सात–आठ सौ वर्ष पूर्व माना

जा सकता है। निरुक्त के सर्वोत्कृष्ट टीकाकार दुर्गाचार्य का समय विक्रम से 600 वर्ष पूर्व माना जाता है निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदं कहकर दुर्गाचार्य ने तथा अष्टाध्यायी 2/4/63 में **यास्कादिभ्यो गोत्रे** सूत्र को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क को विक्रम से सात आठ सौ वर्ष पूर्व माना जा सकता है।

1.4 सारांश

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यास्क के काल के विषय में बहुत मतभेद हैं परन्तु यास्क की तिथि की अवरसीमा के विषय में प्रायः सभी विद्वान् एकमत हैं कि उसे 500 ई. पूर्व से इधर नहीं लाया जा सकता जबकि पर सीमा को कुछ विद्वान् 700 ई. पूर्व तक ले जाते हैं। निरुक्त–सहित निघण्टु के विषय में विस्तृत जानकरी हो जाने पर निरुक्त तथा निघण्टु का पारस्परिक सम्बन्ध भी स्वतः सिद्ध हो जाता है। निघण्टु निरुक्त का आश्रयी अर्थात् आधार ग्रन्थ है। स्वयं यास्क अथवा किसी ऋषि–मुनि द्वारा वेद के कतिपय विशिष्ट शब्दों का संग्रह किया गया। संग्रह भी ऐसा जहाँ एक ओर नैघण्टुक काण्ड पर्यायवाची पदों पर बल देता है, नैगमिककाण्ड अनेकार्थक पदों को प्रस्तुत करता है तथा दैवतकाण्ड देवतत्त्व को व्याख्यायित करता है वहीं उन–उन पदों से समलङकृत उन–उन मन्त्रों का उद्धरण प्रस्तुत करके उन–उन पदों की विशिष्ट व्याख्या के साथ निरुक्त उन मन्त्रों में विनियुक्त अनेक अभिनव पदों का भी निर्वचन प्रस्तुत करता है। इससे ऐसा लगता है कि निरुक्त जहाँ एक ओर निघण्टु में संग्रहीत पदों की विस्तृत विवेचना करता है वहीं वह निघण्टु के संकल्प को भी श्रीसंवृद्धि प्रदान करता है। निघण्टु यदि बीजरूप में वैदिक पदों की उनके समानार्थक–अनेकार्थक शब्दों के साथ प्रतिष्ठा करता है तो निरुक्त उसी बीजरूप स्वरूप को सोद्धरण अर्थविस्तार पूर्वक एक महावृक्ष के रूप में विविध शाखा–प्रशाखाओं से सम्पूर्ण वैदिक जगत् को आप्लावित करता है। दोनों में आधार–आधेय, विषय–विषयी अथवा अवयवी–अवयवरूप घनिष्ठ सम्बन्ध है।

1.5 सन्दर्भग्रन्थ

1. निघण्टु तथा निरुक्त– लक्ष्मण सरूप, मोतीलाल वनारसी दास, दिल्ली
2. निरुक्त– यास्क–उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
3. महाभारत– गीताप्रेस, गोरखपुर, उ0प्र0
4. वैदिक वाङ्मय का बृहद् इतिहास–वेदभाष्यकार पं.भगवद्दत्त, प्रणवप्रकाशन, दिल्ली
5. वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, वाराणसी
6. वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप प्रोफेसर ओमप्रकाश पाण्डेय, विश्वप्रकाशन, वाइली इस्टर्नलिमिटेड, नई दिल्ली,
7. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास–युधिष्ठिर मीमांसक प्रथम भाग, प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, वाराणसी

1.6 बोध प्रश्न

1. निरुक्त से क्या अभिप्राय है? इसके स्वरूप तथा महत्त्व का प्रकाश डालिए।
2. निघण्टु क्या है? इसके प्रतिपाद्य विषय पर प्रकाश डालिए।
3. निरुक्त तथा निघण्टु में क्या सम्बन्ध हैं ?
4. निरुक्त तथा निघण्टु के रचनाकार के काल पर प्रकाश डालिए।
5. यास्क का संक्षिप्त परिचय देकर उनके योगदान पर प्रकाश डालिए।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 2 निरुक्त : चारपद, षड् भावविकार, वेद की अर्थवत्ता

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 पदों के चतुर्विध विभाग

- 2.2.1 नाम
- 2.2.2 आख्यात
- 2.2.3 उपसर्ग
- 2.2.4 निपात

2.3 षड् भावविकार

- 2.3.1 जायते
- 2.3.2 अस्ति
- 2.3.3 विपरिणमते
- 2.3.4 वर्धते
- 2.3.5 अपक्षीयते
- 2.3.6 विनश्यति

2.4 वेद की अर्थवत्ता

2.5 सारांश

2.6 शब्दावली

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.9 बोध प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपको :

- निरुक्तशास्त्र के प्राचीन आचार्यों से सन्दर्भित ज्ञान-विज्ञान की परम्परा का बोध होगा।
- वेदों निःसृत निरुक्तशास्त्र की विशद परम्परा का विकास किस प्रकार हुआ इसका परिज्ञान होगा।
- निरुक्तशास्त्र के अन्तर्गत भारतीय भाषा-विज्ञान के मूलस्रोत के रूप में अभिरुचि जागृत होगी।

- पदों के व्यापक वर्गीकरणों तथा उनके पर्यायों के विषय में परिचय प्राप्त होगा।
- षड्भाव विकारों की संकल्पना तथा उसके भेदों का परिज्ञान होगा।
- वेदों में निहित मन्त्रों की अर्थवत्ता का बोध होगा।
- वैदिक परम्परा के अन्तर्गत भाषाशास्त्र के मूलभूत विषयों का अभिज्ञान होगा।

2.1 प्रस्तावना

भाषा के व्यवहार में पदों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, वाक्यों में अर्थ-प्रधान एवं विशेष होता है तथा उसे व्यक्त करने वाले पद गौण होते हैं। पदों से किस सन्दर्भ में किन अर्थों का प्रस्फुटन करना है, इसे प्रतिपादित करने के लिये ही निरुक्त का प्रयोग किया जाता है। अतः वैदिक पदों के अर्थों के परिज्ञान हेतु निरुक्ति ही प्रधानतया साहायिका सिद्ध होती है। इसी प्रक्रिया में वेदों में निहित अर्थज्ञान हेतु निघण्टु का अन्तर्भाव परिलक्षित है। निरुक्त की मूल संकल्पना, मूलतः पदों के अर्थबोध द्वारा भाषिक व्यवहार हेतु निर्वचन तथा वैदिक देवताओं के विवेचन हेतु की गयी है।

सामान्यतः निघण्टु में वेदों में निहित पदों के अर्थों को कोशरूप में संगृहीत किया है। यास्ककृत निरुक्त इसी निघण्टु की टीका है। निघण्टु के प्रारम्भिक अध्यायत्रयी को नैघण्टुककाण्ड की संज्ञा स्वीकृत है, जिसमें एकार्थवाही पदों का संग्रह है। नैगमकाण्ड (चतुर्थ से षष्ठ अध्याय) में अनेकार्थवाही एवं दैवतकाण्ड (सप्तम से द्वादश अध्याय) में वैदिक देवताओं के नाम परिगणित किये गये हैं। अन्तिम दो अध्याय परिशिष्ट के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार निरुक्त में कुल चतुर्दश अध्याय हैं।

यास्काचार्य ने पूर्व में वैदिक पदों के अर्थनिर्धारण हेतु विभिन्न सम्प्रदायों के नामनिर्देश निरुक्त में वर्णित किये हैं, यथा- आधिदैवत आध्यात्म, आख्यानसमय, ऐतिहासिक, नैदान, पारिव्राजक, याज्ञिक इत्यादि। इनमें से कतिपय आचार्य निरुक्ति विधान में भी सन्नद्ध थे, दुर्गाचार्य ने चतुर्दश निरुक्ताचार्यों का परिगणन किया है - **'निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्, निरुक्त चतुर्दशधा इति'** - आग्रायण, औपमन्यव, औदुम्बरायण, और्णवाभ, कात्थक्य, क्रौष्टुकी, गार्ग्य, गालव, तैटीकि, वार्ष्यायणी, शाकपूणि एवं स्थौलष्ठीवी इत्यादि। निःसंदेह इस दीर्घकालीन निरुक्ति की परम्परा में उत्तरकालीन वेदभाष्यकारों ने यास्क के निरुक्त को ही प्रमाण रूप में स्वीकृतकर वेदार्थ का निर्धारण किया है। निरुक्तकार का काल आचार्य पाणिनि से पूर्व (ई० 800 से 1000) स्वीकृत किया जाता है।

निरुक्त की प्रक्रिया में परोक्षवृत्ति अथवा अतिपरोक्षवृत्ति पदों से अव्यक्त अर्थों को व्याख्यायित करके प्रदर्शित किया जाता है। इसमें व्यापकतया ध्वन्यात्मकता के आधार को ग्रहणकर अर्थ के स्वरूप का निर्वचन किया जाता है। दुर्गाचार्य निर्वचन के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये वर्णित करते हैं - **अपिहितस्यार्थस्य परोक्षवृत्तावति परोक्षिवृतौ वा शब्दे निष्कृष्य निगृह्यवचनं निर्वचनम्** अर्थात् आंशिक अथवा पूर्णतया व्युत्पत्ति की दृष्टि से दुरूह पदों में निगूहित अर्थ को प्रकाशित करने हेतु उसके अक्षरों का विग्रह करते हुये क्रिया को पूर्णतया अभिव्यक्ति करना ही निर्वचन कहलाता है।

निरुक्त शास्त्र को वेद के श्रोत्ररूप में वर्णित किया गया है - **'निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते**। आचार्य

सायण के अनुसार - **'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्'** अर्थात् अर्थज्ञान हेतु स्वतन्त्ररूपेण पदों के संग्रह किया जा सकता है, उसे ही 'निरुक्त' रूप में अभिधान किया जाता है। वस्तुतः यास्काचार्य के अनुसार निरुक्त-ज्ञान के बिना यदि कोई भी मनुष्य वेदश्रवण अथवा वैदिक विज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता तथा जिसे वेदार्थ का परिज्ञान नहीं है, वह निश्चय ही जड़बुद्धि के समान है। जो पुरुष अर्थ को जानता है अर्थात् वैदिकज्ञान से सम्पन्न है, वह समस्त कल्याण को प्राप्त करता है एवं वह ज्ञान-विधूतपाप्मा स्वर्ग को प्राप्त करता है -

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेद न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान-विधूत-पाप्मा।। निरुक्त 1.6।।

निरुक्त के अनुसार वैदिक पदों के निर्वचन की पाँच प्रक्रिया व्याख्यायित है - वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश तथा धातु का अर्थ-विस्तार - **"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।"**

2.2 पदों के चतुर्विध विभाग

निरुक्तकार कहते हैं - **'समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः'** अर्थात् वैदिक मन्त्रों में निर्दिष्ट पदों को विशेष प्रकार से अत्यन्त चिन्तन, मनन द्वारा सुनियोजित करके संगृहीत किया जा चुका है, इसी समाम्नाय रूपी कोश को निघण्टु कहा जाता है। ये संगृहीत सभी पद व्याख्यान के योग्य हैं एवं उनका व्याख्यान करना ही निरुक्त का उद्देश्य है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि पद क्या होते हैं ? पदों को परिभाषित करने के लिये उव्वट आचार्य द्वारा वाजसनेयी प्रातिशाख्य में 'अर्थवान्' वर्णसमूह को पद की संज्ञा वर्णित की है - **अर्थाभिधायि पदम्। पद्यते गम्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति पदम्।** (वाजसनेयी प्रातिशाख्य 3.2) इसी प्रकार आचार्य पाणिनि ने **'सुप्तिङन्तं पदम्'** (अष्टाध्यायी 1.4.14) सूत्र द्वारा 'पद' को परिभाषित करते हुये सुप् एवं तिङ् प्रत्ययों की 'पद' संज्ञा होती है, यह व्याख्यायित किया है।

आपिशलि, गौतम आदि अन्य आचार्यों ने विभक्ति से युक्त शब्द की पदसंज्ञा परिभाषित की है - **विभक्त्यन्तं पदम्।** वस्तुतः अक्षरों का समुदाय पद होता है, कहीं-कहीं एकाक्षर भी पद होता है, किन्तु महाभाष्यकार इसे अधिक परिभाषित करते हुये वर्णित करते हैं कि सार्थक एवं साधु शब्दों की ही पद संज्ञा होती है। अपशब्द अथवा म्लेच्छ, दुष्ट शब्दों का उच्चारण अनर्थक होता है - **दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।** अर्थात् स्वर और वर्ण से हीन अशुद्ध उच्चारण वाणीरूपी वज्र से वक्ता (यजमान) को ही नष्ट करता है जिस वृत्रासुर (इन्द्रशत्रु) का वध हो गया। इसी प्रकार एक साधु पद के विभिन्न अपभ्रंश भी हो सकते हैं, यथा गो शब्द के गावी, गौणी, गोता इत्यादि।

तद् यानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्ग-निपाताश्च तानीमानि भवन्ति -

निघण्टु में उक्त ये समाहृत पद, चार प्रकार के होते हैं जिसे यास्काचार्य इस प्रकार वर्णित करते हैं - **नाम, आख्यात, चोपसर्ग-निपाताश्च तानीमानि भवन्ति।** वस्तुतः पदों के विभाजन के सन्दर्भ में मतभेद प्राप्त होता है। कतिपय आचार्य, पदों के दो ही भेद स्वीकार करते हैं - नाम एवं

आख्यात। कतिपय आचार्य, यास्क द्वारा निर्दिष्ट इन चारों भेदों के अतिरिक्त कर्मप्रवचनीय की भी गणना पञ्चम पद के रूप में करते हैं। पाणिनीय व्याकरण में सुबन्त तथा तिङन्त को ही पद व्याख्यायित किया गया है। इसी सन्दर्भ को आचार्य भर्तृहरि ने स्पष्टरूपेण वर्णित किया है - **द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि च। अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् (वाक्यपदीय 3.1.1)।।** स्वयं आचार्य यास्क भी प्रतिपादित करते हैं कि निपात एवं उपसर्ग मूलतः नाम तथा आख्यात के सहित संयुक्त होकर ही स्वयं के अर्थ को प्रकाशित करते हैं - **नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योगतका भवन्ति।।**

यहाँ यह विशेष है कि यास्क आचार्य ने इन्हें पदजाति रूप में व्यक्त किया है जिसका अर्थ है - नामजाति अर्थात् पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग इत्यादि भेदों के सहित। इसी प्रकार आख्यातजाति से तात्पर्य कर्तृवचन, भाववचन, कर्मवचन इत्यादि भेदों से सहित। इसी प्रकार भेदों सहित उपसर्गजाति एवं निपातजाति का वर्णन है। पुनश्च यह विधान दो द्वन्द्वसमासयुक्त पदों द्वारा किया गया है - प्रथम नामाख्यात एवं द्वितीय उपसर्ग और निपात जिसमें नाम तथा आख्यात स्वतन्त्र रूप में अर्थ को प्रकट करते हैं अतः ये दोनों प्रधान है तथा उपसर्ग एवं निपातों को इनके सामर्थ्य से अर्थावबोधन करते हैं, अतः उन्हें इनके पश्चात् रखा गया है। इनमें भी उपसर्ग का संयोजन आख्यात के साथ समन्वित होता है अतः आख्यात के पश्चात् इसका उपदेश किया गया है। इसके पश्चात् आचार्य क्रमानुसार इनके लक्षणों को व्याख्यायित करते हैं- **तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति।**

2.2.1 नाम

वाक्य में भाव की प्रधानता के अनुसार नामपद का प्रथम उल्लेख किया गया है। सत्त्व अथवा द्रव्य (वस्तु) को नामपद (संज्ञा) कहा जाता है जो क्रिया से भिन्न द्रव्य है, यथा- गो, सिंह, अश्व, पुरुष इत्यादि। लिङ्ग तथा संख्या से अन्वित पद को नाम कहा जाता है। वस्तुतः जो आख्यात पद में गौण भाव से उपलक्षित हों वही नामपद है- **शब्देनोच्चारितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते। तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्यार्हुमनीषिणः** (वृ. दे. 1.42)।। वस्तुतः नाम पद में लिङ्ग, संख्या तथा वचनादि से समन्वित होती है- **'सत्त्वं द्रव्यं लिङ्गसंख्या युक्तं वस्तु'**। प्रातिशाख्यों में इसे एक श्लोक में वर्णित किया है- **क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्। सत्त्वाभिधायकं नाम निपाताः पादपूरणाः** (शु० यजु० प्राति० 8.46)।।

व्याकरणशास्त्र में इसकी प्रातिपदिक की संज्ञा होती है जिसके लिये दो सूत्रों का विधान है - **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (पा. सू. 1.2.45) तथा **कृत्तद्धितसमासाश्च** (पा. सू. 1.2.46)। जो धातुसंज्ञक, प्रत्ययसंज्ञक तथा प्रत्ययान्तसंज्ञक शब्दों से इतर अर्थवान् शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। इन्हीं अर्थवान् शब्दों को नाम कहा जाता है। पुनश्च प्रातिपदिक संज्ञा होने के पश्चात् **स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसि-भ्याम्भ्यस्ङसोसाङ्ङ्योस्सुप्** (पा. सू. 4.1.2) इस सूत्र से सुबोत्पत्ति होती है। उन्हें सुबन्त कहा जाता है जिसके उपरान्त उनकी पद संज्ञा होती है। अतः नाम पद की सत्त्व, द्रव्य तथा प्रातिपदिक संज्ञा भी है।

सत्त्व का लक्षण स्पष्ट करते हुये यास्काचार्य कहते हैं - '**अदः इत् सत्त्वनामुपदेशः। गौरश्वः पुरुषो हस्तीति।**' अर्थात् तद्, इदम्, अदस् इत्यादि सर्वनामयुक्त पदों द्वारा जिसका उपदेश किया जा सके उन्हें नाम पद कहा जाता है। **'सर्वेषां नाम सर्वनाम'** अर्थात् जिनका प्रयोग किसी पदविशेष के लिये निश्चित न होकर सभी पदों हेतु समान रूप से होता है, उन्हें अन्वर्थक

संज्ञा के रूप में सर्वनाम कहा जाता है। इसी प्रकार ऐसे शब्द जो किसी विशिष्ट नाम अथवा द्रव्य के वाचक हैं, यथा गौ, अश्व, पुरुष, हस्ति इत्यादियों की सत्त्व संज्ञा होती है। इसी के साथ उन्होंने **'मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिर्व्रज्या पंक्तिरिति'** द्वारा इन द्रव्य निरूपित भाव को भी सत्त्व की संज्ञा के अन्तर्गत ग्रहण किया है। वस्तुतः सत्त्व का तात्पर्य है सिद्ध क्रिया के परिणत भाव से है।

वाक्य में जहाँ नाम एवं आख्यात दोनों की उपस्थिति होती है, वहाँ आख्यात अर्थात् क्रिया की ही प्रधानता होती है, यथा- बालकः गच्छति में बालकः नामपद है तथा गच्छति आख्यातपद यहाँ वस्तुतः आख्यातपद पद की प्रधानता होती है, नामपद उस क्रिया के सम्पदानार्थ प्रयुक्त होता है। इसके लिये निरुक्तकार कहते हैं - **तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः**।

2.2.2 आख्यात

आख्यात पद की व्युत्पत्ति - आ+ख्या+क्त से हुयी है जिसका अर्थ है जो उक्त है अथवा जिसे वर्णित किया जा चुका है। इसका लक्षण है - **'तदाख्यातं येन भावं स धातुः'** (ऋक्प्रातिशाख्य 12.19)। 'आख्यात' पद की व्युत्पत्ति है - **'आख्याते प्रधानभावेन क्रिया अप्रधानभावेन च द्रव्यं यत्र तद् आख्यातम्'** अर्थात् जहाँ प्रधान रूप से क्रिया एवं गौण रूप से द्रव्य उद्बोधित हो, उसे आख्यात कहा जाता है। निरुक्तकार के अनुसार आख्यातरूप यह तिङन्तपद मूलतः भाव प्रधान होता है (भावप्रधानम् - भावः प्रधानं यत्र, बहुव्रीहि समास)। वाक्य में कारक, विशेषण एवं अव्यय इत्यादि पद गौण होते हैं, प्रमुखतः क्रियावाचक पद ही प्रधान होता है - **आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्.... सर्वाणि ह्येतानि क्रियाविशेषणानि।** आचार्य दुर्गाचार्य के अनुसार जहाँ क्रिया गौण भाव से वर्तमान होकर, अनेक कारकों द्वारा विभक्त होकर, साक्षात् प्रधान द्रव्य भाव को अभिव्यक्त करती है, उस क्रिया का प्रधान रूप से वर्तमान भाव 'आख्यात' कहलाता है –

> **आख्यायतेऽनेन गुणभावेन वर्तमानानेकारकप्रविभक्ता स्फुरमाणप्रधानद्रव्यभावाभिव्यक्त्युन्मुखीभूता क्रिया तस्याश्च प्राधान्येन वर्तमानो भावः स्वात्मलाभप्रधान इत्याख्यातम्। (निरुक्तम्, दुर्ग, 1/1)**
>
> **पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम् -**

यहाँ उपक्रम का अर्थ है किसी क्रिया का प्रारम्भ तथा अपवर्ग का अर्थ है समाप्ति अर्थात् क्रिया के प्रारम्भ से जब तक वह समाप्त नहीं हो जाती है उसके मध्य की सम्पादित विभिन्न अन्य अवान्तर क्रियायें भी होती हैं किन्तु वे सभी गौड़ होने के कारण आख्यात रूप में वाच्य नहीं होती, वहाँ केवल प्रधान कार्य सम्पादित होने पर जो क्रिया समाप्त होती है, उसे ही आख्यात पद से निरूपित किया जाता है। आरम्भ से अन्त तक सम्पादित किया जाने वाली सम्पूर्ण क्रिया का उपक्रम, यथा- 'पचति' क्रिया में ओदन की विक्लित्ति के अनुकूल सभी अवान्तर व्यापारों के उपक्रमों के सहित क्रिया के सम्पूर्ण साध्य को भाव कहा जाता है तथा क्रियायें व्यापारसमुदायात्मक होती हैं। मूलतः ये तिङन्त पद क्रियाबोधक धातुओं से सम्बद्ध होते हैं। अतः भाव का अर्थ होता है 'क्रिया' - **साध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया उच्यते।** वस्तुतः कर्ता, कर्म, भाव, कर्मकर्ता इन चार रूपों में आख्यात प्राप्त होता है। इसी प्रकार जब भाव अथवा क्रिया को कृदन्त पदों से नामजाति में वर्णित किया जाता है, तब वह भाव आख्यातरूप में न होकर द्रव्य के रूप से प्रतीत होता है। यास्काचार्य के अनुसार क्रिया के सामान्य अभिव्यक्ति के लिये दो भेद होते हैं - अमूर्त (पूर्वापरीभूत) भाव तथा मूर्तभाव। जिसे वैयाकरणभूषणसार में

स्पष्टरूपेण परिभाषित किया है। साध्य अवस्था में स्थित भाव जो धातुरूप में निबद्ध होता है। तथा सिद्ध अवस्था में स्थित भाव जो घञादि कृदन्त रूपों में निबद्ध होता है। (**साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूप निबन्धना। सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनाः।।** वैयाकरणभूषणसार - 15) पुनश्च द्रव्य के रूप में प्रतीत होने का तात्पर्य यह है कि वह लिङ्ग, संख्या तथा वचनादि से समन्वित होती है। प्रातिशाख्यों में भी कहा गया है कि **'तदाख्यातं येन भावं स धातु'** अर्थात् जो धातु शब्द के द्वारा वक्ता, भाव अर्थात् क्रिया का अभिधान करता है, वही आख्यात कहलाता है।

2.2.3 उपसर्ग

यह पदों का तृतीय विभाग है। उपसर्ग दो शब्दों से निर्मित है - उप+सर्ग तथा सृज् धातु से घञ् प्रत्यय द्वारा करने पर सर्ग शब्द व्युत्पन्न होता है। उप का अर्थ है 'समीप' और सर्ग का अर्थ 'सृष्टि करना' है। इस प्रकार उपसर्ग का अर्थ होगा- जो किसी शब्दांश के आरम्भ में प्रयुक्त होकर उसके नवीन अर्थ की सृष्टि करते हैं, वे उपसर्ग हैं। अर्थात् भाषा का वह छोटे से छोटा सार्थक खण्ड, जो शब्द के आरम्भ में लगकर नये शब्दों का सृजन करता है, उपसर्ग कहलाता है। यथा- प्रहार, अनुवाद। **उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्।।** ये उनके अर्थ विशेष को प्रकाशित करते हैं। अतः ये नामाख्यात के अर्थों के द्योतक माने जाते हैं। प्रयोग रूप में उपसर्ग के तीन प्रकार प्राप्त होते हैं- **धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित् तमनुवर्तते। विशिनष्टि तमेवार्थम् उपसर्गगतिस्त्रिधा।।**

- कई स्थानों में यह धातु के मुख्य अर्थ को बाधितकर उससे भिन्न अर्थ का बोध कराता है। यथा- चिञ् धातु का अर्थ होता है 'चयन करना' किन्तु उप, उपसर्गपूर्वक उपचय का अर्थ होता है 'वृद्धि करना'।
- इसी प्रकार यह धातु के अर्थ को ही अनुवर्तित करता है। लोकयति का अर्थ है - देखता है, तथा अवलोकयति का अर्थ भी 'देखता है' होता है।
- इसका तृतीय प्रकार होता है कि जहाँ यह विशेषण रूप में मूल धात्वर्थ को अधिक विशिष्ट बनाता है। यथा- कम्पते का अर्थ होता है 'काँपता है' तथा आकम्पते का अर्थ होता है 'पूर्णरूपेण काँपता है'।

आचार्य यास्क के अनुसार बीस उपसर्ग हैं - आ, प्र, परा, अभि, प्रति, अति, सु, निर्, दुर्, नि, अव, उत्, सम्, वि, अप, अनु, अपि, उप, परि तथा अधि। आचार्य पाणिनि के मत में उपसर्गों की संख्या 22 है। उन्होंने निस् - निर् तथा दुस् - दुर् को पृथक्-पृथक् उपसर्ग के रूप में परिगणन किया है। पाणिनि ने उपसर्ग के लिये गति तथा कर्मप्रवचनीय इन दो संज्ञाओं का भी प्रयोग किया है।

उपसर्गों के वर्णन में दो प्रमुख मतों का उल्लेख प्राप्त होता है - शाकटायन मत तथा गार्ग्य मत। इन दोनों आचार्यों ने उपसर्गों के द्योतकत्व तथा वाचकत्व का वर्णन किया है साथ ही विभिन्न आचार्यों ने इनके मतों का खण्डन तथा मण्डन किया है।

शाकटायन आचार्य के अनुसार नाम अथवा आख्यात के समीप स्थित होकर उन्हीं के अर्थ को विशेष रूप से उत्पन्न करने वाले इन शब्दों को उपसर्ग कहा जाता है। ये उपसर्ग, नाम अथवा आख्यात के साथ आबद्ध न होने पर किसी भी अर्थ को नहीं कर सकते हैं– **'न निर्बद्धा**

उपसर्ग अर्थात्रिराहुरिति शाकंटायनः'। आचार्य शाकटायन उपसर्गों के सम्बन्ध में उनके अर्थों के यही द्योतकत्व पक्ष स्वीकृत करते हुये वर्णित करते हैं कि – **'नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति'** नाम अथवा आख्यात के साथ संयुक्त होकर ही उपसर्ग, उनके अर्थ विशेष को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं, स्वतन्त्र रूप में इनका कोई अर्थ नहीं होता है, अतः ये नामाख्यात के अर्थों के द्योतक स्वीकृत किये गये हैं।

आचार्य गार्ग्य के अनुसार उपसर्गों का स्वयं स्वतन्त्र अर्थ है, वे नाम एवं आख्यात पदों से साथ संयुक्त होकर उनके अर्थ का द्योतन ही नहीं करते हैं, अपितु स्वयं के स्वतन्त्र वाच्यार्थ के द्वारा उनमें अर्थवैशिष्ट्य भी उत्पन्न करते हैं, जो उनके वाचकत्व पक्ष को व्याख्यायित करता है- **उच्चवचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः।** इसी प्रकार उपसर्गों का अपना जो स्वतन्त्र अर्थ है वही अर्थ, नाम तथा आख्यात के साथ संयुक्त होने पर भी विद्यमान रहता है, परन्तु समवेत होने पर मूल अर्थ में वैशिष्ट्य उत्पन्न कर देता है।

आचार्य स्कन्दस्वामी भी शाकटायन के द्योतकत्व पक्ष का निराकरण करते हुये वर्णित करते हैं कि अन्वयव्यतिरेक के द्वारा उपसर्ग के अर्थ को ग्रहण किया जा सकता है। जिस प्रकार आख्यात का स्वयं अपना अर्थ होता है, उसी प्रकार उपसर्ग का भी अर्थ होता है। अतः संयुक्त तथा असंयुक्त दोनों स्थितियों में उपसर्गों को अर्थ-विशेष का वाचक स्वीकृत किया जाता है - **तद् य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थं विकरणम्।** वैयाकरणनिकाय में आचार्य भर्तृहरि उपसर्गों को वाचक तथा द्योतक दोनों ही रूप में स्वीकार करते हैं- **स वाचको विशेषाणां सम्भवद् द्योतकोऽपि वा**।

आचार्य गार्ग्य के मतानुयायी निरुक्तकार ने सभी उपसर्गों द्वारा स्वतन्त्र अर्थ के रूप में निम्नलिखित रूप में प्रदर्शित किया है –

- **आ इत्यर्वागर्थे -** 'आ' उपसर्ग का पूर्व अर्थ में प्रयोग किया जाता है।
- **प्रपरेत्येतस्य प्रातिलोम्यम् -** 'प्र' तथा 'परा' ये दोनों उपसर्ग पूर्वोक्त 'आ' उपसर्ग के विपरीत अर्थ को द्योतित करते हैं।
- **अभीत्याभिमुख्यम् -** 'अभि' इस उपसर्ग का सम्मुख अर्थ होता है।
- **प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम् -** 'प्रति' तथा 'अभि' उपसर्ग प्रतिलोम अर्थात् विपरीत अर्थ को परिभाषित करते हैं।
- **अति सु इत्यभिपूजितार्थे -** 'अति' एवं 'सु' ये दोनों उपसर्ग सम्मान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।
- **निर्दुरित्येतयोः प्रतिलोम्यम् -** 'निर्' और 'दुर्' ये उपसर्ग सम्मानार्थ के विपरीत अर्थ को प्रकट करते हैं।
- **न्यवेति विनिग्रहार्थीयो -** 'नि' तथा 'अव' ये उपसर्ग विनिग्रह अर्थात् नियन्त्रण अर्थ को प्रकट करते हैं।
- **उदित्येतयोः प्रतिलोम्यम् -** 'उत्' यह उपसर्ग पूर्वोक्त 'नि' एवं 'अव' उपसर्ग के विपरीत अर्थ को व्याख्यायित करते हैं।

- **समित्येकीभावम् -** विभिन्न पदार्थों को एक स्थान पर अथवा एक सादृश्य के साथ प्रस्तुत करना एकीभाव कहलाता है, 'सम्' उपसर्ग उसी एकीभाव के अर्थ को प्रकट करता है।
- **व्यपेत्येतस्य प्रतिलोम्यम् -** 'वि' तथा 'अप' ये उपसर्ग पूर्वोक्त एकीभाव के विपरीत अर्थ को प्रकट करते हैं।
- **अन्विति सादृश्यापरभावम् -** 'अनु' उपसर्ग सादृश्य के अपरभाव को अथवा सादृश्य तथा अपरभाव दोनों के अर्थ को प्रसंगानुसार व्याख्यायित करता है।
- **अपीति संसर्गम् -** 'अपि' उपसर्ग दो पदों के परस्पर सम्बन्ध को परिभाषित करता है, संसर्ग का अर्थ होता है सम्बन्ध है, जो सम्बन्धी से भिन्न हो।
- **उपेत्युपजनम् -** 'उप' उपसर्ग सामीप्य अथवा आधिक्य अर्थ को प्रस्तुत करता है।
- **परीति सर्वतो भावम् -** 'परि' यह उपसर्ग सर्वतोभाव अर्थ को प्रकट करता है।
- **अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वा -** 'अधि' यह उपसर्ग उच्च भाव तथा ऐश्वर्यभाव को प्रकाशित करता है।

'एवमुच्चावचानान्प्राहुस्त उपेक्षितव्याः' इस प्रकार उपर्युक्त रूपों द्वारा विभिन्न उपसर्गों के अर्थों को आचार्यों ने व्याख्यायित किया है, उन अर्थों को प्रयोगों के अनुसार उचित अर्थों के प्रकाशन के लिये उपयोग किया जाना चाहिये। वस्तुतः दुर्गाचार्य वर्णित करते हैं कि उपसर्गों के अनेक अर्थ होते हैं परन्तु आचार्य यास्क ने उपलक्षण हेतु उपसर्गों की अर्थवत्ता के प्रदर्शन के लिये इनका एक-एक अर्थ वर्णित किया है।

2.2.4 निपात

यह पदों का चतुर्थ विभाग है। निपात शब्द 'नि' उपसर्गपूर्वक 'पत्' धातु के ण प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता है। अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण ये शब्द निपात इस संज्ञा द्वारा परिभाषित हैं। इनकी पृथक् श्रेणी है, ये शब्द वस्तुतः भाव प्रधान नहीं होते हैं अतः इनका परिगणन आख्यातों में तथा सत्व प्रधान न होने के कारण नामों में नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार एवं नाम और आख्यात से संयुक्त नहीं होने कारण स्वतन्त्र अर्थाभिधान करने से उपसर्गों में भी समन्वित नहीं किये जा सकते हैं। वाक्य में कारकादि सम्बन्धों की संयुति के बिना ही इनका प्रयोग किया जाता है।

कतिपय निपात वैदिक एवं लौकिक उभयतः स्वयं भाषाओं में अर्थों के सहित प्रयोग किये जाते हैं किन्तु प्रयोगदृष्ट्या कुछ मात्र वैदिक भाषा में अथवा लौकिक भाषा में ही प्रयुक्त होते हैं। वस्तुतः अर्थ के आधार पर निपातों के विभागों को परिज्ञान करने पर, निपात दो प्रकार के होते हैं- 1. सार्थक निपात 2. निरर्थक निपात। जिसे यास्काचार्य ने सामान्यतः इस प्रकार वर्णित किया है- सार्थक निपात के रूप में उपमार्थक अर्थात् सादृश्यार्थक तथा कर्मोपसंग्रहार्थक। मूलतः सादृश्यार्थक निपात उपमा के प्रसंग में सादृश्यार्थक तथा अन्य प्रयोगों में कर्मोपसंग्रहार्थक अथवा निरर्थक भी हो सकते हैं।

यास्क ने प्रयोगों के अनुसार इन निपातों को तीन रूपों में विभाजित किया गया है -

- **उपमार्थक निपात** - उपमान की उपमेय से उपमा देने के लिये उपमार्थक निपातों का प्रयोग होता है। उपमार्थक निपातों का परिगणन करते हुये निरुक्तकार के अनुसार इव, न, चित् तथा नु ये चार निपात को उपमार्थ में प्रयुक्त होते हैं।
  - इव - इव निपात लौकिक तथा वैदिक उभयतः प्रयोगों में उपमा अर्थ में प्रयुक्त होता है।
  - न - इस निपात का प्रयोग उपमार्थ हेतु केवल वैदिक भाषा में प्राप्त होता है किन्तु निषेध रूप में लौकिक तथा वैदिक भाषा में उभयतः इसका प्रयोग प्राप्त होता है।
  - चित् - चित् निपात वस्तुतः अनेकार्थक है इसके उपमार्थक प्रयोगों के साथ सम्मानार्थक, निन्दार्थक आदि प्रयोग भी प्राप्त होते हैं।
  - नु - यह निपात भी अनेकार्थक है इसके उपमार्थक प्रयोगों के साथ हेतुकथन, अनुप्रश्न आदि प्रयोग भी प्राप्त होते हैं।
- **कर्मोपसंग्रहार्थक निपात** - कर्मोपसंग्रहार्थक निपात वे होते हैं जो किसी दूसरे अर्थ का संग्रह करते हैं। जिसके अन्तर्गत च, वा, आ, अह, ह, किल, हि, ननु, खलु, शश्वतम्, नूनम् इत्यादि निपातों की गणना की है। इनके पृथक्-पृथक् अर्थों का विवरण भी विविध मन्त्रों तथा लौकिक भाषा में इनके प्रयोग प्राप्त होते हैं। कर्मोपसंग्रहार्थक निपात सामासिक पदों के मध्य में उनके अर्थों अथवा धातुओं में निहित भिन्न अर्थों की निश्चितता परिभाषित करते हैं।
- **पादपूरण निपात** - पादपूरण वे निपात हैं जो वेद में मन्त्रों में पादों की पूर्ति के लिये प्रयुक्त होते हैं। ये निरर्थक निपातों की श्रेणी में आते हैं। पादपूरण निपात वे निपात होते हैं जो किसी पद्य अथवा गद्य में मात्र वाक्यपूर्ति अर्थात् छन्दपूर्ति अथवा वाक्यों में लयबद्धता की पूर्ति हेतु प्रयुक्त होते हैं, वस्तुतः उनका कोई अर्थ विशेष नहीं होता है, वे अनर्थक ही होते हैं।

यास्काचार्य ने चार पादपूरण निपातों का परिगणन किया है - कम्, ईम्, इत्, उ किन्तु जब इनका निहितार्थ अर्थ सम्भव न हो अर्थ, अर्थात् प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न हो रहा हो इनके अर्थ से वाक्यार्थ में कोई विशेष परिवर्तन न हो, ये तभी अनर्थक होते हैं। इसके अतिरिक्त ये निपात अर्थवान् भी होते हैं। वाक्य में अर्थ का परिलक्षण न होने पर पादपूर्ति ही इनका एकमात्र प्रयोजन स्वीकृत किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यास्क ने इव, खलु, नूनम् तथा सीम् इन निपातों का परिगणन भी अनर्थकता उपस्थित होने पर पादपूरणार्थक निपातों में किया है।

इस प्रकार निरुक्ति की परम्परा के अनुसार आचार्य यास्क ने पदों के उपर्युक्त विभाग - नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात इन चार रूपों में किये हैं। निःसन्देह यह विभाजन आचार्य ने अर्थनिर्धारण के दृष्टिकोण के अनुसार किये हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। उपसर्गों एवं निपातों का विस्तृत वर्णन अग्रिम अध्याय में किया जायेगा।

अभ्यास प्रश्न - 1

1. वेदपुरुष में निरुक्त का विधान किस अङ्ग के रूप में किया गया है?
   क. नेत्र

ख. मुख

ग. श्रोत्र

घ. पाद

2. निरुक्त को कितने काण्डों में विभाजित किया है ?

क. दो

ख. तीन

ग. चार

घ. पाँच

3. दुर्गाचार्य ने कितने निरुक्ताचार्यों का परिगणन किया है ?

क. दश

ख. पन्द्रह

ग. चौदह

घ. ग्यारह

4. वैदिक पदों के निर्वचन हेतु कितनी प्रक्रियायें प्रचलित हैं?

क. पाँच प्रक्रिया

ख. चार प्रक्रिया

ग. तीन प्रक्रिया

घ. दो प्रक्रिया

5. नामाख्यात पद में कौन सा समास प्रयुक्त है?

क. द्वन्द्व समास

ख. अव्ययीभाव समास

ग. तत्पुरुष समास

घ. बहुव्रीहि समास

6. प्रातिपदिक संज्ञा किसकी नहीं होती है?

क. सुबन्त पदों की

ख. तिङन्त पदों की

ग. कृदन्त पदों की

घ. तद्धित पदों की

7. भाव का अर्थ क्या होता है?

क. नाम

ख. क्रिया

ग. उपसर्ग

घ. निपात

8. आचार्य स्कन्दस्वामी उपसर्गों के किस पक्ष का समर्थन करते हैं?
   क. वाचकता पक्ष का
   ख. निन्दार्थक पक्ष का
   ग. द्योतकता पक्ष का
   घ. उपमार्थक पक्ष का
9. निपात शब्द में कौन सा प्रत्यय है?
   क. ण प्रत्यय
   ख. क प्रत्यय
   ग. अण् प्रत्यय
   घ. अ प्रत्यय
10. निरुक्त में कितने उपमार्थक निपातों का परिगणन किया गया है?
   क. दो
   ख. तीन
   ग. चार।
   घ. पाँच।

2.3 षड् भावविकार

भाव शब्द का प्रयोग दो रूपों में किया जाता है - कार्यरूप में तथा कारणरूप में। उपर्युक्त वर्णनों के अनुसार हमने कार्यरूप भाव का आख्यातों के रूप में अध्ययन किया। अधुना कारणात्मक भाव के निरूपण का प्रसंग उद्धृत करते हैं। भाव शब्द **'भावप्रधानमाख्यातम्'** के अनुसार निरुक्तकार ने क्रियापदों के लिये आख्यात पद का प्रयोग किया है, जहाँ भाव का प्राधान्य हो वह आख्यात है।

भाव इस पद की व्युत्पत्ति 'भू सत्तायाम्' धातु से 'घञ् प्रत्यय' द्वारा निष्पन्न है, जिसका अर्थ है - क्रिया। भाव में सभी क्रियाओं (धातुओं) का परिगणन किया जाता है। आचार्य वार्ष्यायणि ने इन्हें छः प्रकार के भाव को वर्णन किया है - **षड्भावविकाराः भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति॥** (नि. 1.2)। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी भूवादयो धातवः (पा.सू. 1.3.1) के अन्तर्गत आचार्य वार्ष्यायणि के नामोल्लेख द्वारा इन षड् भावविकारों का वर्णन किया है - **षड्भावविकारा इति ह स्माह वार्ष्यायणिः।** भावविकार शब्दों की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गयी है। कतिपय आचार्यों के अनुसार यह भाव शब्द पदार्थवाची है तथा विकार शब्द अवस्था का वाचक है। अन्यों के मतानुसार भाव शब्द सार्थकशब्द समष्टि तथा परब्रह्म का वाचक है तथा विकार शब्द अवस्थान्तर प्राप्ति का ही बोधक है।

निरुक्तकार के अनुसार यहाँ विकार शब्द यहाँ प्रकारवाची है तथा भावशब्द क्रियावाची है, आचार्य वार्ष्यायणि ने इन भावों के अन्तर्गत आख्यातों को उत्पत्ति से अवसानपर्यन्त षड् भावों में विभाजित किया गया है - 1. जायते 2. अस्ति 3. विपरिणमते 4. वर्धते 5. अपक्षीयते 6.

विनश्यति, अर्थात् जन्म लेना (उत्पत्ति), होना (सत्ता), परिवर्तित होना (परिणाम), वृद्धि करना (वृद्धि), क्षीण होना (अपक्षय) तथा नष्ट होना (विनाश)। क्रिया की उत्पत्ति से फलप्राप्ति तक की समग्र अवस्थाओं को भावविकार कहा जाता है। इनका क्रमशः विवेचन इस प्रकार है-

2.3.1 जायते

जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे। नापरभावमाचष्टे न प्रतिषेधति - जन्म का अर्थ होता है प्रादुर्भाव जो जीव तथा अजीव, जड़ तथा चेतन दोनों का सामान्यतः होता है। जन्म का भाव मुख्यतः उद्भव के द्वारा ही प्रकट होता है गौणरूपेण उसमें अस्तित्व का भाव समाहित नहीं होता है क्योंकि उत्पत्ति की प्रक्रिया के अनन्तर ही उसमें अस्तित्व का अभिधान होता है। बीज से अंकुर का उद्भव होना उत्पत्ति की प्रक्रिया है। यह उत्पत्ति की प्रक्रिया में उस वस्तु की स्थिति का पूर्णतः बोध नहीं होता है जिससे उसका अस्तित्व व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है और न ही उसकी सत्ता का निषेध किया जा सकता है। अतः यह प्रथम भाव जायते के रूप में परिभाषित किया जाता है।

2.3.2 अस्ति

अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम् - इस उत्पन्न वस्तु के अस्तित्व के भाव अर्थात् विद्यमानता को अस्ति नामक द्वितीय भाव परिभाषित करता है जो उसकी सत्ता अर्थात् स्थिति को सन्दर्भित करता है। किसी सत्त्व की निश्चयात्मक स्थिति ही उसका अवधारणा स्थिति को उपस्थित करती है। यथा घटोऽस्ति, पटोऽस्ति में घट तथा पट की सत्ता अर्थात् उसकी विद्यमानता का निर्धारण होता है। इसे वाक्यपदीयकार सम्बन्धसमुद्देश में व्याख्यायित करते हैं कि **आत्मानम् आत्मना बिभ्रद् अस्तीति व्यपदिश्यते** अर्थात् स्वयं में स्वत्व को धारण करने करना ही अस्ति का व्यापार है।

2.3.3 विपरिणमते

विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद्विकारम् - विपरिणमते अर्थात् परिवर्तित होना। इस भाव में क्रिया स्वयं अपनी मूलप्रकृति का त्याग नहीं करती है यथा मानवीय शरीर में बहुविध परिवर्तन होते हैं किन्तु यह स्वयं की मूलप्रकृति का त्याग नहीं करता है। अप्रच्यवमान का अर्थ होता है विकारमात्र का विपरिणाम जो स्वस्वरूप की अधोगति अथवा अवनति को स्वीकार न करते हुये ऊर्ध्वगमन अथवा ऊर्ध्वगति को ही स्वीकृत करती है। वस्तुतः विद्यमान सत्ता (अस्ति) में वृद्धि के लिये किञ्चित् विपरिणाम आवश्यक है। अतः यह अस्ति तथा वर्धते के मध्य का भाव है।

2.3.4 वर्धते

वर्धत इति स्वाङ्गाभ्युच्चयम्। सांयौगिकानां वार्थानाम्। वर्धते विजयेनेति वा। वर्धते शरीरेणेति वा - तृतीय भाव वर्धते का अर्थ होता है वृद्धि। वस्तुतः वृद्धि के दो प्रकार होते हैं - प्रथम- स्वयं में वृद्धि होना यथा- शारीरिक वृद्धि होना तथा द्वितीय- भाववृद्धि होना यथा- धनेन वर्धते, विजयेन वर्धते इसे भी वृद्धि के रूप में व्याख्यायित किया जाता है। यहाँ विजय से वृद्धि प्राप्त करता है अथवा धन से वृद्धि प्राप्त करता है, इसमें अन्य पदार्थों के संयोग से वृद्धि प्राप्त होती है। इसी प्रकार शरीर में वृद्धि होती है इस अवस्था में स्वीय अङ्गों में वृद्धि होती है। इसे

इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि आन्तरिक तत्त्वों की वृद्धि अथवा बाह्य उपकरणों के द्वारा वृद्धि।

2.3.5 अपक्षीयते

अपक्षीयत इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम् - पञ्चम भाव अपक्षीयते का अर्थ होता है - ह्रास अथवा अपक्षय। जो इससे पूर्व वर्धते के सन्दर्भ में परिभाषित किया गया है, उसका प्रतिलोम अर्थात् इसके भी वृद्धि के समान दो भेद हैं - शारीरिक ह्रास तथा पदार्थजन्य अथवा पदार्थों का ह्रास। यथा- शारीरिक ह्रास अथवा क्षीण होना तथा भाव का अपक्षय होना यथा– पराजय प्राप्ति इसे ही विलोम रूप में अपक्षीयते द्वारा व्याख्यायित किया जाता है।

2.3.6 विनश्यति

विनश्यतीत्यपरभावस्यादिमाचष्टे - अन्तिम भाव विकार है - विनश्यति, जब अपक्षीयते भाव विकार स्वयं चरमोत्कृष्ट परिधि को प्राप्त करता है तदनन्तर उत्पन्न भाव विनाश होता है। यथाकाल जब अङ्गों का क्षीण होना पूर्ण हो जाता है तत्पश्चात् उनका विनाश होता है।

ये सभी षड्भाव विकार स्वयं से पूर्व वर्णित भाव में न तो निर्दिष्ट होते हैं तथा न ही उसका निषेध करते हैं- **न पूर्वभावमाचष्टे न प्रतिषेधति।** वस्तुतः क्रियाओं की पृथक्-पृथक् अवस्थायें होती हैं किन्तु सभी क्रियाओं का अन्तर्भाव उपर्युक्त षड् भावविकारों में अन्तर्निहित होता है - **अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह। ते यथावचनमभ्यूहितव्याः।** यथा निष्पद्यते, अभिव्यज्यते, उत्तिष्ठति इत्यादि उत्पत्ति के भेद हैं, इसी प्रकार- अस्ति के भेद हैं भवति, विद्यते; जीर्यते इत्यादि विपरिणाम के तथा वर्धते के भेद हैं पुष्यति, उपचीयते; ध्वस्यति, भ्रश्यति इत्यादि अपक्षीयते के तथा म्रियते, विलीयते इत्यादि भेद विनश्यति के हैं, किन्तु इन सभी क्रियाओं का अन्तर्भाव इन मूल षड्भावों में होता है।

इन सभी भावों में पूर्वभाव तथा अपरभाव का सम्बन्ध होता है। यथा दो क्रियाओं के सम्बन्ध में जो क्रिया पूर्व में हो वह पूर्वभाव तथा अन्य अपरभाव - जायते एवं अस्ति में जायते पूर्वभाव है तथा अस्ति अपरभाव होता है। किन्तु जायते का आदि नहीं होता है अतः इसका पूर्वभाव नहीं सिद्ध होगा, इसी प्रकार विनश्यति के पश्चात् शेष न होने के कारण इसका अपरभाव नहीं होता है। इस प्रकार इन षड्भावविकारों को सर्वत्र तत्सम्बन्धी सन्दर्भों के अनुसार विवेक द्वारा परिज्ञान करना चाहिये।

2.4 वेद की अर्थवत्ता

यास्काचार्य वर्णित करते हैं कि निरुक्त अध्ययन के बिना मन्त्रों के अर्थों का अवबोधन सम्भव नहीं है। वेदार्थों की प्रक्रिया उनमें निहित मन्त्रों के अर्थ विविध दृष्टियों के सापेक्ष की गयी है, यथा- अधियज्ञ, अधिदैवत तथा अध्यात्म। इस हेतु विविध सम्प्रदायों का उल्लेख भी किया जाता रहा है, किन्तु इन सभी समाम्नायों ने मन्त्रों की अर्थवत्ता को प्रतिपादित किया है। वस्तुतः जब तक मन्त्रों में प्रयुक्त पदों का स्वरादि परिज्ञान तथा इसके साथ-साथ उन पदों का सम्यक् वर्गीकरण नहीं किया जायेगा, उन पदों से अर्थनिष्पत्ति दुष्कर होगी। इसके लिये सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व यही है कि वेदमन्त्रों में निहित सभी पद अर्थवान् हों अन्यथा वे पद उन मन्त्रों में निहित विज्ञान को पूर्णतः प्रकाशित किस प्रकार करेंगे। इन्हीं अर्थवान् पदों को प्रकाशन करना

ही निरुक्त का प्रयोजन है, इस कारण यास्काचार्य सभी वेद मन्त्रों की अर्थवत्ता प्रतिपादित करते हैं।

इस सन्दर्भ में आचार्य कौत्स द्वारा विविध मतों के वर्णन प्राप्त होते हैं, जिनमें उन्होंने वैदिक मन्त्रों के आनर्थक्य को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु निरुक्तकार आचार्य यास्क ने सुसन्दर्भित तर्कों द्वारा कौत्साचार्य के मतों का खण्डन किया है तथा वैदिक मन्त्रों की अर्थवत्ता प्रतिपादित की है। इन मतों का परिज्ञान अधुना इस प्रकार किया जा सकता है –

यास्कप्रणीत निरुक्तशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है - वैदिक मन्त्रों की अर्थ प्रतीति जो इस शास्त्र के बिना सम्भव नहीं है, अर्थ की प्रतीति नहीं होने पर स्वरसंस्कार द्वारा किया गया उपदेश सार्थक नहीं हो सकता है। इसे निरुक्तकार इस प्रकार वर्णित करते हैं - **अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यतेऽर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः।** इन्हीं मन्त्रों के अर्थों का परिज्ञान करने का कारण यह शास्त्र विद्यास्थान है तथा मूलरूपेण व्याकरणशास्त्र से अनुस्यूत भी है, साथ ही शास्त्रानुमोदित वैदिक मन्त्रों के अर्थों के प्रकाशन के कारण स्वार्थसाधक भी व्याख्यायित किया जाता है - **तदिदं विद्या स्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च।** वस्तुतः व्याकरणशास्त्र पदों की व्युत्पत्ति का शास्त्र है जो उनके बहिरङ्ग रचना-विभाग अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय विभागों की संकल्पना को व्याख्यायित करता है, जिससे उस शब्द की साधुता-असाधुता का निर्णय किया जा सके, किन्तु निरुक्तशास्त्र उनके अन्तरङ्ग विभाग उनमें निहित मूलभाव (अर्थ) की निष्पत्ति करता है।

आचार्य कौत्स निरुक्त अध्ययन को व्यर्थ सिद्ध करते हुये यह मत प्रस्तुत करते हैं कि मूलतः वेदाङ्गों के अन्तर्गत निरुक्त शास्त्र का प्रयोजन मन्त्रों के अर्थों को व्याख्यायित करना है, जबकि ये सभी वैदिक मन्त्र अनर्थक हैं, ये मन्त्र स्वयं अर्थ से रहित हैं तथा यज्ञादिकर्मों के निमित्त उच्चारणमात्र के लिये प्रयोग किये जाते हैं। अतः मन्त्रार्थ प्रकाशन का कोई औचित्य ही नहीं है और इस प्रयोजन पर आधारित इस शास्त्र की भी कोई आवश्यकता ही नहीं है –

यदि मन्त्रार्थ प्रत्ययाय, अनर्थकं भवतीति कौत्सः।
अनर्थका हि मन्त्रास्तदेतेनोपेक्षितव्यम्।

आचार्य कौत्स ने इसके प्रमाण के लिये निम्न सात मतों को उपस्थापित किया है किन्तु यास्काचार्य ने सप्रमाण इन मतों का खण्डन भी किया है –

- इसी क्रम में आचार्य कौत्स वेदमन्त्रों की निरर्थकता प्रतिपादित करने हेतु प्रथम कारण प्रस्तुत करते हुये वर्णित करते हैं - **नियतवाचोयुक्तयो नियतानुसूया भवन्ति।** अर्थात् वेदमन्त्रों में निहित पद आनुपूर्वी (सुनिर्धारित क्रम) में अनुस्यूत होते हैं, उनका पौर्वापर्य अविच्छिन्न तथा निर्बाध रूप में सुनिश्चित होता है। इसे इस प्रकार से समझा जा सकता है कि **अग्निमळे पुरोहितम्** - इसमें तीन पद हैं अग्निम्, ईडे, पुरोहितम् ये तीनों पद जिस अनुक्रम में पठित हैं, उसी का अनुसरण करना निर्धारित है, इनका व्युत्क्रम अथवा अग्नि के समानार्थी पद वह्नि, पावक इत्यादि पदों का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता है। इसके विपरीत लोक में पदों के समानार्थी अथवा पदों के व्युत्क्रम से भी वाक्यबोध उसी अर्थ में होता है। इसी तर्क के आधार पर वेदमन्त्र क्योंकि नियत आनुपूर्वी द्वारा सुनिर्धारित हैं अतः वे निरर्थक है।

आचार्य यास्क इस तर्क का खण्डन इस प्रकार करते हैं कि **अर्थवन्तः शब्दसामान्यात**, मन्त्रार्थ सिद्ध होते हैं, लोक में भी अग्नि, पावक, वह्नि ये तीनों ही शब्द सार्थक हैं, अतः मन्त्रों में निहित ये पद निरर्थक नहीं हैं। इस प्रकार लौकिक प्रयोगों में पद अर्थ से परिपूर्ण होने के कारण उन्हीं पदों का वैदिक प्रयोग सार्थक ही सिद्ध होगा। इसके प्रमाण के साथ-साथ यास्काचार्य ब्राह्मण वचनों का उल्लेख करते हुये वर्णित करते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों में श्रौतकर्म, यज्ञादि प्रकियाओं में उन मन्त्रों में निहित शब्दों के अर्थों का अवबोधन करके ही उनमें भिन्न-भिन्न देवताओं के अन्तर्गत क्रिया विधानों को विनियोगों द्वारा समायोजित करते। ऐतरेयब्राह्मण की प्रथम पञ्चिका में व्याख्यायित करते हैं कि अभीष्ट प्रयोजन के विधिवत् व्याख्यान एवं सिद्धकामना के पूर्ण परिज्ञान के विना यज्ञ की पूर्णता सिद्ध नहीं होती है। इसमें क्रियमाण कर्मों (किये जाने वाले कर्म) का वर्णन ऋक्, यजुष् वेदों में प्राप्त होता है तथा जो स्वयं इनका व्याख्यान करते हैं, यही व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थ के रूप में परिभाषित होता है - **एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति इति च ब्राह्मणम्।** इसे यास्क सावित्री सूर्या ऋषिका द्वारा विनियुक्त विवाह के प्रयोजन को प्रतिपादित करने वाले मन्त्र द्वारा उदाहरणस्वरूप व्याख्यायित करते हैं - हे वर और वधू! तुम दोनों यहीं रहो, परस्पर कदापि पृथक् न हो, विशिष्ट रूप से सम्पूर्ण आयुकाल को प्राप्त करो तथा स्वगृह में वास करते हुये पुत्र-पौत्रादिकों के साथ आमोद सहित क्रीडा का आनन्द लो - **इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे (ऋग्वेद 10.85.42)**। इस मन्त्र में निहित सभी शब्दों में प्रयोजन के साथ-साथ अर्थों की परिपूर्णता तथा भावसम्प्रेषण भी विद्यमान है। अतः इन मन्त्रों को निरर्थक किस प्रकार कहा जा सकता है।

आनुपूर्वी के आक्षेप विषय में आचार्य यास्क यह समाधान करते हैं कि मन्त्र नियत आनुपूर्वी तथा सुनिर्धारित पदयोजना के कारण निरर्थक होते हैं, यह भी निराधार ही है क्योंकि लोक में बहुविध शब्दों में आनुपूर्वी नियत होती है किन्तु वे सभी शब्द अर्थवान् कहलाते हैं, यथा- इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ इत्यादि शब्द एक साथ ही प्रयुक्त होते हुये अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसके विपरीत लोक में अग्नीन्द्रौ तथा पुत्रपितरो इत्यादि प्रयोग प्राप्त नहीं होते हैं, इन शब्दों की आनुपूर्वी भी निर्धारित है तथा अर्थ भी स्पष्ट परिभाषित होते हैं - **यथो एतन्नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्तीति लौकिकेष्वप्येतत्। यथा . इन्द्राग्नी। पितापुत्रौ।** इसके विपरीत लोक में अग्नीन्द्रौ तथा पुत्रपितरो इत्यादि प्रयोग प्राप्त नहीं होते हैं अतः यह तर्क की मन्त्र नियत आनुपूर्वी तथा सुनिर्धारित पदयोजना के कारण निरर्थक होते हैं, यह व्यर्थ सिद्ध होता है।

- मन्त्रार्थों की निरर्थकता के अग्रिम कारण को उपस्थापित करते हुये कौत्साचार्य वर्णित करते हैं कि मन्त्रों में निहित पदों का स्वयं में कोई अर्थ नहीं होता है, अतः उनके अर्थों तथा विनियोगों का अभिव्यक्त करने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों का विधान किया जाता है। **अथापि ब्राह्मणेन रूपसंपन्ना विधीयन्ते। उरु प्रथस्व इति प्रथयति। प्रोहाणि इति प्रोहति। अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति।** ब्राह्मण ग्रन्थ के द्वारा व्याख्यान करने के सामर्थ्य से ही इन्हें याज्ञिकादि अनुष्ठानों में प्रयोग तथा प्रयोजन सिद्ध किये जा सकते हैं। अतः इनमें स्वयं अर्थवत्ता नहीं है। इसके प्रतिपादन के लिये वे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि **जनयत्यै त्वा संयौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायुरुरुप्रथाऽउरु प्रथस्वोरु** (यजुर्वेद 1.22)। इस मन्त्र में प्रयुक्त **उरु प्रथस्व** का अर्थ स्वतः स्फुटित नहीं होता है किन्तु

ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा यह मन्त्र पुरोडाश को फैलाना है, यह प्रथन का अर्थ पुरोडाश के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है, इस अर्थ एवं प्रयोजन को स्पष्ट करता है।

इसी प्रकार प्रोहण कर्म के लिये **इदमहं मां प्राञ्चं प्रोहामि तेजसे ब्रह्मवर्चसाय** (पञ्चविंशब्राह्मणम् अध्याय 1.2) यह मन्त्र पठित है, जिसका विनियोग भी ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर ही स्पष्ट होता तथा याज्ञिक यज्ञकर्म में प्रवृत्त होता है, न कि मूलमन्त्रार्थ द्वारा। इसी प्रकार अन्यान्य इन्हीं उदाहरणों से यह निष्कृष्टार्थ प्राप्त होता है कि मन्त्र स्वयं अर्थवान् नहीं होते हैं, अपितु ब्राह्मण ग्रन्थों की सहायता से उनमें अर्थनिष्पत्ति होती है।

इस विषय में आचार्य यास्क यह समाधान करते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में उक्त वर्णन उनके अर्थों का अनुवाद मात्र है, जिनका उपयोग उन मन्त्रों का कर्मविनियोग किस प्रकार करना है इसका वर्णन है। यह अपूर्व विधान नहीं है, क्योंकि मन्त्र स्वयं अपने आपको कर्म में विनियुक्त नहीं करता है। ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य मन्त्रकर्म में विनियोग का कार्य करते हैं - **यथो एतद् 'ब्राह्मणेन रूपसंपन्ना विधीयन्त' इत्युदितानुवादः स भवति**। पुनश्च जब मूल स्वयं अनर्थक होगा, तब उसका अनुवाद सार्थक कैसे सिद्ध हो सकता है, अतः वेदों की अर्थवत्ता इससे प्रमाणित होती है।

- कौत्साचार्य मन्त्रों की निरर्थकता प्रतिपादित करने के लिये व्याख्यान करते हैं कि मन्त्रों में निहित शब्दों के अर्थ, अनुपपन्न अर्थात् असंगत होते हैं - **अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति।** अतः असंगत अर्थ होने के कारण निरर्थक सिद्ध होते हैं। इसे इस प्रकार से समझा जा सकता है, यथा- **ओषधे त्रायस्वैनम्।** इस मन्त्र का विनियोग यज्ञीय विधान हेतु ओषधि वृक्ष को काटने के लिए किया जाता है, और प्रार्थना की जाती है कि हे ओषधि! हमारा रक्षण करें, जिसका स्वयं उच्छेद किया जा रहा है वह किसी की रक्षा कैसे कर सकता है। **स्वधिते मैनं हिंसीः इत्याह हिंसन्।** हे खड्ग! इसकी हिंसा मत कर तथा स्वयं यजमान इस खड्ग से वृक्ष उच्छेद करता है, ये दोनों ही मन्त्रों के अर्थ युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते हैं। अतः अर्थों में असंगत प्रतीत होने कारण मन्त्र अनर्थक सिद्ध होते हैं।

  इसका समाधान यास्काचार्य इस प्रकार करते हैं कि मन्त्रों में निहित पदों द्वारा ओषधि शब्द से ओषधि में अधिष्ठानभूत देवता से रक्षा की कामना अभीष्ट है। इसी प्रकार दूसरे मन्त्र में उच्छेदन से उत्पन्न हिंसा से निवृत्ति हेतु प्रार्थना की गयी है। यह वैदिक मन्त्रों की उदात्त भावना को प्रकट करता है तथा वेदों में अहिंसा का समर्थन किया गया है - **यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीत्याम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत।**

- कौत्स आचार्य एक अन्य मत उपस्थापित करते हुये वर्णित करते हैं कि मन्त्रों में निहित शब्दों के अर्थ परस्पर विरुद्ध द्योतित होते हैं - **अथापि विप्रतिसिद्धार्था भवन्ति।** इस हेतु वे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि **एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः** (तैत्तिरीय संहिता 1.8.6.1) अर्थात् एक ही रुद्र है जो स्थित था, दूसरा और कोई नहीं है। इसी के विपरीत एक मन्त्र में - **असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्** (यजुर्वेद 16/54) अर्थात् अगणित सहस्रों रुद्र जो भूमि में स्थित हैं इस मन्त्र में रुद्र को सहस्र बताया गया है। ये मन्त्र परस्पर विरुद्ध अर्थ प्रकाशित कर रहे हैं। इसी प्रकार **अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि** (ऋग्वेद 10.133.2) मन्त्र में इन्द्र को शत्रुओं से रहित इस अपरनाम से सम्बोधित किया गया है, इसके विपरीत अन्य मन्त्र **एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः** (ऋग्वेद 10.103.1) में इन्द्र के द्वारा शताधिक शत्रुसेनाओं के विजय को वर्णित किया गया है, ये

दोनों मन्त्र परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक है। अतः इस हेतु से मन्त्रों को अनर्थक सिद्ध किया जा सकता है।

इसका समाधान यास्काचार्य इस प्रकार कहते हैं कि लौकिक व्यवहार में भी इस प्रकार के वाक्य प्रयोग होते हैं - **यथो एतद् विप्रतिषिद्धार्था भवन्तीति लौकिकेष्वप्येतत्।** इससे वे उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि **असपत्नोऽयं ब्राह्मणः। अनमित्रो राजा।** अर्थात् लोक में भी एक अथवा दो से अधिक शत्रुओं अथवा मित्रों को नगण्य, स्वल्प स्वीकृत करके उन्हें शत्रुओं अथवा मित्रों से शून्य स्वीकृत किया जाता है। यह भी विदित है कि वस्तुतः देवताओं की शक्ति अनन्य हैं, स्वशक्ति के सामर्थ्य से ही अगणित रूपों में परिवर्तित हो सकते हैं। अतः लोक प्रयोगों के अनुसार जब इस प्रकार के वाक्य निरर्थक नहीं होते हैं, तब वेदमन्त्र किस प्रकार अनर्थक सिद्ध हो सकते हैं।

- आचार्य कौत्स अग्रिम तर्क व्याख्यायित करते हैं कि ऋत्विजों अथवा अध्वर्युओं को यज्ञकर्मों का पूर्वज्ञान रहता है, इसी के साथ यजमान भी प्रत्यक्ष कार्य सम्पादन को अनुभूत करता है। पुनश्च यज्ञकर्ताओं को **"अग्नये समिध्यमानायानु ब्रूहि (तैत्तिरीयसंहिता 6.3.7)"** अर्थात् प्रदीप्तमान अग्नि हेतु मन्त्रोच्चारण करें पुनः अग्नि में समिधा की आहूति निवेदित करें इस मन्त्रोच्चार का क्या प्रयोजन होता है, इसका ज्ञान यजमान को होता ही है, परन्तु इसका उच्चारण किया जाता है। अतः मन्त्रों के अर्थ अनर्थक है।

  इस तर्क का समाधान करते हुये यास्काचार्य कहते हैं कि मन्त्र स्वयं को कर्म में विनियुक्त नहीं करता है अपितु अध्वर्यु अथवा होता मन्त्रोच्चारण द्वारा उन मन्त्रों का यज्ञकर्म में विनियोग करता है। अतः यह उत्पानुवाद मात्र है कोई नूतन विधान नहीं है। यह विधान लोक में भी प्राप्त होता है। यथा- शिष्य आचार्य का अभिवादन करते हुये स्वनामोच्चारण के साथ **"अभिवादये देवदत्तोऽहम्"** द्वारा अभिवादन करता है। इसी प्रकार वैवाहिक कर्म में भी वर को मधुपर्क प्रदान करते हुये **"मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृहीताम्"** यह त्रिवार उच्चारण करके मधुपर्क वर को दिया जाता है, यह उसको विशेष रूप में प्रदान करने के लिये तथा ध्यानाकर्षण के लिये किया जाता है - **यथो एतज्जानन्तं संप्रेष्यतीति जानन्तमभिवादयते। जानते मधुपर्कं प्राह इति।**

- आचार्य कौत्स मन्त्रों की आनर्थक्यता सिद्ध करने हेतु एक अन्य मत प्रस्तुत करते हैं कि मन्त्रों में निहित पद परस्पर विरोधाभासी भी होते हैं। यथा "**अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑ति॒रन्तरि॑क्ष॒मदि॑ति॒र्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः** (ऋग्वेद 1.89.10) इति'' इस मन्त्र में अदिति ही द्युलोक है, वही अन्तरिक्ष है, वही माता है तथा पिता एवं पुत्र भी वही है -**अथाप्याहादितिः सर्वमिति। अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्।** यह परस्पर विरुद्ध वर्णन है क्योंकि द्युलोक एवं अन्तरिक्ष लोक पृथक्-पृथक् हैं, इसी प्रकार माता, पिता एवं पुत्र इत्यादि सम्बन्ध भी पृथक्-पृथक् सत्ताधारियों के होते हैं। अतः यह व्यावहारिक दृष्टि से उपपन्न नहीं है, इस कारण से मन्त्र अनर्थक सिद्ध होते हैं।

  यास्काचार्य इसका समाधान करते हुये वर्णित करते है कि लोक में भी अतिशय श्रद्धा प्रकट करने हेतु इस प्रकार का व्याख्यान करते हैं - **यथो एतददितिः सर्वमिति लौकिकेष्वप्येतत्।** यथा- सभी रस जल से ही प्राप्त होते हैं, यहाँ अतिशय का भाव प्रकट होता है - **सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयम् इति।** इससे वाक्य अनर्थक नहीं सिद्ध होता है, मूलभाव वहाँ अन्तनिर्हित होता ही है।

- कौत्साचार्य अन्तिम मत प्रस्तुत करते हुये वर्णित करते हैं कि वेदमन्त्रों वर्णित बहुविध पद अध्यक्, यादृशिमन्, जारयायि, काणुका प्रभृति इत्यादि द्वारा मन्त्रों के अर्थ स्पष्ट नहीं होते हैं। अतः वे अनर्थक होते हैं - **अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति। अम्यंक्** (ऋग्वेद 1.169.3)। **यादृशिमंन्** (ऋग्वेद 5.44.8)। **जारयायिं** (ऋग्वेद 6.1.4)। **काणुका** (ऋग्वेद 8.77.4) **इति।**

  निरुक्तकार इस सन्दर्भ में लोक के प्रसंग से ही समाधान प्रस्तुत करते हैं यदि पशु को बांधने हेतु स्थित खूँटे से यदि कोई नेत्रहीन पुरुष बाधित होकर गिरता है, तब इसमें उस खूँटे का नहीं अपितु उस गिरने वाले नेत्रहीन पुरुष दोष सिद्ध होता है। उसी प्रकार इन पदों के प्रयोगों एवं अर्थों का बोध न होना मन्त्रों का दोष नहीं होता है, अपितु उन पदों में निहित निरुक्ति द्वारा उनके अर्थों का बोध न करना ही अज्ञानता का कारण होता है। इसीलिये जिस प्रकार जनपदीय कार्यों में स्वविद्या की कुशलता द्वारा पुरुष सुविख्यात होता है तथा शास्त्रज्ञ विद्वानों में भी बहुश्रुत विद्वान् ही प्रशंसनीय होता है, उसी प्रकार बहुविध प्रयत्नों द्वारा उन क्लिष्ट पदों का अर्थ समझना चाहिये न कि उन्हें अज्ञानवशात् निरर्थक स्वीकार करना चाहिये - **यथो एतदविस्पष्टार्था भवन्तीति नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति। यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।**

इस उपर्युक्त मतों को व्याख्यायित करके आचार्य कौत्स वेदमन्त्रों को अनर्थक सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु निरुक्तकार आचार्य यास्क समाधान के रूप में उन सभी मतों का खण्डन करते हैं तथा उपयुक्त उदाहरणों द्वारा तथा लौकिक न्यायों द्वारा उसका सम्यक् समाधान भी यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

अभ्यास प्रश्न 2

1. भाव शब्द में कौन सा प्रत्यय है ?
   - क. ण प्रत्यय
   - ख. क प्रत्यय
   - ग. अण् प्रत्यय
   - घ. घञ् प्रत्यय
2. भूवादयो धातवः सूत्र से कौन सी संज्ञा होती है ?
   - क. प्रातिपदिक संख्या
   - ख. धातु संज्ञा
   - ग. नाम संज्ञा
   - घ. अव्यय संज्ञा
3. अस्तित्व भाव इनमें से कौन सा भाव है ?
   - क. प्रथम भाव
   - ख. द्वितीय भाव
   - ग. तृतीय भाव

घ. षष्ठ भाव

4. विलीयते पद किस भाव को प्रदर्शित करता है ?

   क. जायते

   ख. अस्ति

   ग. विपरिणमते

   घ. विनश्यति

5. किस भाव का अपरभाव नहीं होता है ?

   क. विनश्यति

   ख. वर्धते

   ग. अस्ति

   घ. अपक्षीयते

6. वेदों की अर्थवत्ता प्रतिपादित करने के लिये यास्काचार्य किस आचार्य के मतों का खण्डन करते हैं?

   क. आचार्य गार्ग्य

   ख. आचार्य कौत्स

   ग. आचार्य शाकटायन

   घ. आचार्य गौतम

7. इनमें मन्त्रों में क्या निर्धारित होता है?

   क. शब्द संख्या

   ख. वर्ण संख्या

   ग. स्वर संख्या

   घ. आनुपूर्वी

8. अग्निमीळे पुरोहितम् इस वैदिक मन्त्र में कितने पद हैं?

   क. एक पद

   ख. तीन पद

   ग. दो पद

   घ. चार पद।

9. इदमहं मां प्राञ्चं प्रोहामि तेजसे ब्रह्मवर्चसाय यह वचन किस ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है?

   क. ऋग्वेद

   ख. तैत्तरीय संहिता

   ग. पञ्चविंशब्राह्मण

   घ. शतपथब्राह्मण

10. अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि इस मन्त्र में इन्द्र को किस अपरनाम से सम्बोधित किया गया है?

    क. विश्वम्

    ख. अशत्रुः

    ग. जज्ञिषे

    घ. पुष्यसि

2.5 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में हमने वेदाङ्गों के अन्तर्गत निरुक्तशास्त्र के मूलभूत तत्त्वों को, उसके प्रतिपाद्य विषयों का अध्ययन किया है। भाषा का व्यवहार जो मुख्यतः वाचिक परम्परा के आधार पर वाक्यों में निहित होता है, इन वाक्यों की संरचना पदों से निर्मित होती है। इन पदों के अर्थों को स्पष्टरूपेण समझने के पश्चात् ही वाक्य अपने सम्पूर्ण अर्थ को प्रकट करता है। वेदमन्त्रों में निहित शब्दों के पूर्ण अर्थ को समझना ही इस निरुक्तशास्त्र का मूल उपादेय है। इन शब्दों के अर्थों के विधिवत् परिज्ञान हेतु सर्वप्रथम आचार्य यास्क ने इनका वर्गीकरण निरुक्तशास्त्र में चार प्रकार से किया गया है - नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात। पुनश्च इन सभी चारों प्रकारों का वर्णन हमने इस इकाई में किया तथा उदाहरणों के माध्यम से उनमें निहित विधानों का भी परिज्ञान किया है। इसके पश्चात् निरुक्तकार ने षड्भाव विकारों को वर्णन किया है - जायते, अस्ति, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति। इनमें निहित मूलभावों को स्पष्ट करते हुये आचार्य ने इनकी विधिवत् व्याख्या भी प्रस्तुत की है।

इसी क्रम में आचार्य कौत्स द्वारा उपस्थापित बहुविध तर्क जो वेदों की अर्थवत्ता को असिद्ध प्रतिपादित करते हुये यह वर्णित करते हैं कि वेद मन्त्र अनर्थक होते हैं। उनके सभी मतों का लौकिक तथा व्याख्यानात्मक तर्कों से खण्डन करते हुये आचार्य यास्क ने वेदों की अर्थवत्ता प्रतिपादित की है, जो इस इकाई का अन्तिम वर्ण्य विषय भी है।

2.6 शब्दावली

- पद - वाक्य में प्रयुक्त शब्दों की पद संज्ञा होती है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार सुप्तिङन्तं पदम् सूत्र से सुबन्त तथा तिङन्त शब्दों की पदसंज्ञा होती है।
- निरुक्ति - किसी पद अथवा वाक्य की ऐसी व्याख्या जिसमें व्युत्पत्ति आदि का पूरा कथन हो तथा अर्थनिष्पत्ति का कारक होता है।
- परोक्षवृत्ति - इसमें धातु की संकल्पना सामान्यतः प्रकाशित नहीं होती है।
- अतिपरोक्षवृत्ति - इसमें धातु तथा प्रत्यय की संकल्पना प्रकाशित नहीं होती है।
- प्रातिशाख्य - प्रति अर्थात् तत्तत् शाखा से सम्बन्धित शास्त्र अथवा अध्ययन। मूलतः इनमें वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण, वैदिक संहिताओं एवं उनके पदपाठों आदि का विवरण प्राप्त होता है।

- अपशब्द - दुष्ट अथवा म्लेच्छ शब्द अर्थात् ऐसे शब्द जिनका कोई अर्थ नहीं होता है यथा- हा हा, हू हू इत्यादि
- समाहृत - एक साथ समायोजन करना।
- कर्मप्रवचनीय - व्याकरण शास्त्र की संज्ञा, ऐसे शब्द जिनके प्रयोग से विभक्ति परिवर्तन होता है।
- अवान्तर व्यापार - मूल क्रिया को सम्पन्न करने के लिये मध्यान्तर क्रियायें, यथा- पकाने की क्रिया में तण्डुल का परिमार्जन उसका अग्नि के ऊपर व्यवस्थापन इत्यादि।
- समवेत - इसका अर्थ होता एक साथ प्रयोग।
- विनिग्रह - इसे नियन्त्रण अर्थ को प्रकट करते हैं।
- अप्रच्यवमान - विकारमात्र का विपरिणाम जो स्वस्वरूप की अधोगति अथवा अवनति को स्वीकार न करते हुये ऊर्ध्वगमन अथ्वा ऊर्ध्वगति को ही स्वीकृत करती है।
- आनुपूर्वी जो पदार्थ जिस क्रम से स्थापित किया गया होए उसका उसी क्रम में अनुसारण करना।

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1 - 1. ग, 2. ख, 3. ग, 4. क, 5. क, 6. ख, 7. ख, 8. क, 9. क, 10. ग।

अभ्यास प्रश्न 2 - 1. घ, 2. ख, 3. ख, 4. घ, 5. क, 6. ख, 7. घ, 8. ख, 9. ग, 10. ख।

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

- निरुक्त - यास्क : (सम्पादक) प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2001
- निरुक्त पञ्चाध्यायी : (व्याख्याकार) महामहोपाध्याय छज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1985
- निरुक्त – यास्क : टीकाद्वय-सहित (सम्पादक) लक्ष्मणसरूप, भाग I&II, दिल्ली, 1982
- निरुक्त के पाँच अध्याय : (सम्पादक एवं अनुवादक) पं० शिवनारायण शास्त्री, इंडोलोजिकल बुक हाऊस, दिल्ली, 1972
- निरुक्तम् : (सम्पादक) डॉ. जमुना पाठक, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी।
- निरुक्तम् (निरुक्तविवृत्ति सहितम्) : (टीकाकार) मुकुन्द झा, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
- यास्कप्रणीतम् निरुक्तम् - डॉ. देवेन्द्रनाथ पाण्डेय, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 1999
- Winternitz, Mourice : History of Indian Literature, Vol. 1, Pt. 1-2 (Translated into English by V. Srinivasa Sharma), M.L.B.D., Delhi, 1988.

2.9 बोध प्रश्न

1. आख्यात पद की व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।
2. उपसर्गों की वाचकता पक्ष को प्रतिपादित कीजिये।
3. किन्हीं दस निपातों को लिखिये।
4. वर्धते तथा अपक्षीयते भावविकारों को परिभाषित कीजिये।
5. आचार्य कौत्स के मन्त्रों में निहित पदों का स्वयं में कोई अर्थ नहीं होता है इस कथन को व्याख्यायित कीजिये।
6. मन्त्रों में निहित पद परस्पर विरोधाभासी भी होते हैं आचार्य यास्क इस कथन का खण्डन किस प्रकार करते हैं।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 3 उपसर्ग एवं निपातों का परिचय, उपसर्ग विषयक मत

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 उपसर्गों का परिचय

3.2.1 उपसर्गों की संख्या

3.2.2 उपसर्गों के अर्थ

3.3 उपसर्ग विषयक विविध मत

3.3.1 उपसर्गों की द्योतकता

3.3.2 उपसर्गों की वाचकता

3.4 निपातों का परिचय एवं उनके प्रभाग

3.4.1 उपमार्थक निपात

3.4.2 कर्मोपसंग्रहार्थक निपात

3.4.3 पादपूरण निपात - निरर्थक निपात

3.5 सारांश

3.6 शब्दावली

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.9 बोध प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपको :

- निरुक्तशास्त्र के अन्तर्गत ज्ञान-विज्ञान की परम्परा का बोध होगा।
- वेदों में प्रयुक्त उपसर्ग, निपात पदों का अभिज्ञान होगा।
- निरुक्तशास्त्र की विशद परम्परा का विकास किस प्रकार हुआ इसका परिज्ञान होगा।
- उपसर्ग, निपात पदों के व्यापक वर्गीकरणों तथा उनके भेद-प्रभेदों के विषय में परिचय प्राप्त होगा।
- उपसर्ग विषयक विविध मतों का परिज्ञान होगा।
- निरुक्तशास्त्र के अध्ययन से भारतीय भाषा-विज्ञान के मूलस्रोत के रूप में अभिरुचि जागृत

होगी।

- वैदिक परम्परा के अन्तर्गत भाषाशास्त्र के मूलभूत विषयों का ज्ञान होगा।

3.1 प्रस्तावना

किसी भी प्रकार के सम्प्रेषण, भावाभिव्यक्ति अथवा कथोपकथन के लिये भाषा सर्वाधिक, सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण एवं सहज माध्यम है। जिससे अर्थ का स्फुटन एवं सम्प्रेषण का प्रयोजन, उसमें प्रयुक्त वाक्यों के सहज भाव से प्राप्त हो जाता है, किन्तु इन वाक्यों से उनमें अन्तर्निहित अर्थों के प्रस्फुटन के लिये उनके पदों में आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि आवश्यक होती है। इसी प्रकार वेदों में अनुस्यूत पदों के अर्थावबोध के लिये निरुक्तशास्त्र वेदाङ्ग रूप में प्रवर्तित हुआ है। जिससे वैदिक पदों की निरुक्ति द्वारा उनमें निहित अर्थों का अभिज्ञान होता है। निघण्टुशास्त्र में ऐसे बहुविध पदों का संकलन किया गया है, पुनश्च इनकी निरुक्ति करके उनके अर्थों की व्याख्या की गयी है। आचार्य यास्क निरुक्तशास्त्र के महनीय आचार्य हैं, उन्होंने वैदिकमन्त्रों में निहित शब्दों की अर्थपरक व्याख्या करके उन्हें अर्थावबोध हेतु सुगमता प्रदान की है, क्योंकि बिना मन्त्रों के अर्थों के बोध के उनका पाठमात्र व्यर्थ है। अतः सम्यक् तात्त्विक अर्थसहित उनका याज्ञिक विधान ही समुचित प्रक्रिया है।

आचार्य यास्क, वेदमन्त्रों में प्रयुक्त पदों को निरुक्तशास्त्र के माध्यम से अर्थों के अवबोध हेतु इन्हें चार प्रभागों में विभाजित किया है- नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात– **नाममाख्यातेचोश्पसर्गं निपाताश्च तानीमानि भवन्ति**।

मन्त्रों की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त शब्द इन्हीं चार रूपों में प्राप्त होते हैं, जिनमें व्यापकरूपों में नाम तथा आख्यात का प्रयोग प्राप्त होता है। नाम से तात्पर्य है जो सत्त्व है अथवा द्रव्य (वस्तु) है उसकी नामपद संज्ञा होती है, अर्थात् जो क्रिया से भिन्न द्रव्य है, यथा- गो, सिंह, अश्व, पुरुष इत्यादि। इन पदों को नामरूप से परिभाषित किया जाता है। सत्त्व का तात्पर्य होता है क्रिया का परिणत भाव अर्थात् वह क्रिया जो सिद्ध हो गयी है। सत्त्व में लिङ्ग एवं संख्या भी अन्वित होते हैं। व्याकरणशास्त्र में इसे ही प्रातिपदिक संज्ञा के रूप में वर्णित किया गया है।

'आख्याते प्रधानभावेन क्रिया अप्रधानभावेन च द्रव्यं यत्र तद् आख्यातम्' अर्थात् जहाँ प्रधान रूप से क्रिया एवं गौण रूप से द्रव्य उद्बोधित हो, उसे आख्यात कहा जाता है। आरम्भ से क्रिया की सम्पूर्णता तक सम्पूर्ण क्रिया के भाव को आख्यात कहा जाता है। आख्यात पदों में भाव की प्रधानता होती है- भवति, आस्ते, शेते, व्रजति, तिष्ठति आदि के द्वारा साध्यापन्नभाव अथवा क्रिया की अभिव्यक्ति होती है।

पूर्व प्रकरण में हमने इनकी संक्षिप्त अवधारणा तथा विषयवस्तु का अध्ययन किया है। उसी सन्दर्भ में अधुना इस प्रकरण में उपसर्गों एवं निपातों के विशिष्ट वर्गीकरणों को उदाहरण सहित विवेचित किया जायेगा।

3.2 उपसर्गों का परिचय

नाम तथा आख्यात पदों के विवेचन के उपरान्त, आचार्य यास्क उपसर्ग का व्याख्यान आरम्भ करते हैं। सर्वप्रथम हम उपसर्गों की सामान्य अवधारणा का परिज्ञान कराते हैं, इसके पश्चात्

इससे सम्बन्धित विविध मतों तथा यास्काचार्य द्वारा उनके समाधानों का अध्ययन करेंगे।

उपसर्ग पदों का तृतीय विभाग है, जो दो शब्दों से निर्मित है - उप+सर्ग तथा सृज् धातु से घञ् प्रत्यय द्वारा सर्ग शब्द व्युत्पन्न होता है। उप का अर्थ है 'समीप' और सर्ग का अर्थ 'सृष्टि करना' है। इस प्रकार उपसर्ग का अर्थ है - जो किसी शब्दांश के आरम्भ में प्रयुक्त होकर, उसके नवीन अर्थ की सृष्टि करते हैं, वे उपसर्ग हैं। अर्थात् भाषा का वह छोटे से छोटा सार्थक खण्ड, जो शब्द के आरम्भ में संयोजित होकर नये शब्दों का सृजन करता है, उपसर्ग कहलाता है, यथा- प्रहार, अनुवाद।

आचार्य शाकटायन इसके अर्थ को विस्तार से परिभाषित करते हुये, यह लक्षण वर्णित करते हैं- **अर्थविशेषाय उपसृज्यन्ते नामाख्यातयोः समीपे संयोज्यन्ते इत्युपसर्गाः** अर्थात् अर्थ में वैशिष्ट्य प्रतिपादन के लिये नाम पदों और आख्यात पदों के समीप ये संयोजित किये जाते हैं। ऐतरेयब्राह्मण में उपसर्ग पद का प्रयोग प्राप्त होता है- **महानाम्नी नामुपसर्गानुपसृजति** (ऐ०ब्रा० 16/4)। इसी प्रकार गोपथब्राह्मण में भी उपसर्ग शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है - **कः प्रत्यय कः स्वर उपसर्गो निपातः** (गो०ब्रा० 1/1/24)।

इसी प्रकार ऋक्प्रातिशाख्य में **'क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो, विशेषकृत्'** तथा वाजसनेयी प्रातिशाख्य में **'उपसर्गो विशेषकृत्'** का वर्णन प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र में भी यह वर्णन प्राप्त होता है- **प्रातिपदिकार्थयुक्तं धात्वर्थमुपसृजन्ति ये स्वार्थैः, उपसर्गा उपदिष्टास्तस्मात् संस्कारशास्त्रेऽस्मिन्॥**

व्याकरणशास्त्र के अनुसार उपसर्ग इस पद की व्युत्पत्ति है- **उपेत्य नामाख्यातयोरर्थस्य विशेषं सृजन्त्युत्पादयन्ति इति उपसर्गाः** अर्थात् नाम तथा आख्यात पदों के साथ संयुक्त होकर ये विशेष अर्थों को प्रतिपादित करते हैं। आचार्य पाणिनि ने आवश्यकतानुसार इनकी चार संज्ञायें की हैं- उपसर्ग (**उपसर्गाः क्रियायोगे,** पा०सू० 1/4/59), गति (**गतिश्च,** पा०सू० 1/4/60), निपात (**प्रागीश्वरान्निपाताः,** पा०सू० 1/4/56) तथा कर्मप्रवचनीय (**कर्मप्रवचनीयाः**, पा०सू० 1/4/83)। इन सभी के पृथक्-पृथक् कार्यक्षेत्र भी निर्देशित किये हैं। इन उपसर्गों की यह विशेषता भी है कि इनके रूप में कोई विकार अथवा परिवर्तन नहीं होता है, अतः इनकी 'अव्यय' संज्ञा भी होती है।

आचार्य शौनक के अनुसार प्र आदि पद, क्रिया के योग में उपसर्ग के रूप में स्वीकृत है तथा ये नाम और आख्यात पदों के विभक्ति-प्रत्ययान्त रूपों के अर्थ में वैशिष्ट्य उत्पन्न करते हैं - **उपसर्गास्तु विज्ञेयाः क्रियायोगेन विंशतिः, विवेचयन्ति ते ह्यर्थः नामाख्यातविभक्तिषु** (बृहद्देवता 2/94)।

आचार्य दुर्ग उपसर्ग का लक्षण करते हुए लिखते हैं कि उपसर्ग वस्तुतः आख्यात के अर्थ में विशेषता उत्पन्न करते हैं– **आख्यातमुपगृह्यार्थ-विशेषमिमे तस्यैव सृजन्तीत्युपसर्गाः।**

वस्तुतः यास्काचार्य के मत में नामपद धातुज हों अथवा अधातुज, उपसर्ग उनके साथ संयुक्त होकर उन नाम पदों के सत्त्व में विशेषता अर्थात् सत्त्व के अभिधेय अर्थ में विचित्रता, भिन्नता अथवा अधिकता उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार आख्यात पदों के साथ संयुक्त होकर उपसर्ग उसके अभिधेय भाव में वैशिष्ट्य उत्पन्न करते हैं।

3.2.1 उपसर्गों की संख्या

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में दस उपसर्गों का परिगणन किया गया है - अधि, अभि, अव, आ, उप, नि, परि, प्र, प्रति, वि- **आप्रावोपाभ्यधिपरिप्रतिविनीत्युपसर्गाः** (तै०प्रा० 1/1/15)। आचार्य दमस्क ने निरुक्त में बीस उपसर्गों का वर्णन किया है- आ, प्र, परा, अभि, प्रति, अति, सु, निर्, दुर्, नि, अव, उत्, सम्, वि, अप, अनु, अपि, उप, परि तथा अधि। बृहद्देवता ग्रन्थ में आचार्य शौनक ने इन्हीं बीस उपसर्गों का ही वर्णन किया है, जो क्रिया के योग में प्रयुक्त होते हैं साथ ही ये नाम एवं आख्यात के रूपों में विशेषता उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार व्याकरणशास्त्र में आचार्य पाणिनि ने निस् - निर् तथा दुस्-दुर् को पृथक्-पृथक् उपसर्ग के रूप में परिगणन करते हुये उपसर्गों की कुल संख्या 22 मानी है।

आचार्य शाकटायन तथा यास्क ने इसके अतिरिक्त अच्छ, श्रत् तथा अन्तर् इन पदों का भी उल्लेख उपसर्गों के अन्तर्गत किया है- **अच्छ श्रदन्तरित्येतानाचार्यः शाकटायनः, उपसर्गान् क्रियायोगान्मेने ते तु त्रयोऽधिकाः (बृहद्देवता 2/95)।** इसी क्रम में वार्तिककार ने मरुत्, श्रत् तथा अन्तर् का पाठ भी उपसर्गों में किया है (**मरुच्छब्दस्य चोपसंख्यानं कर्तव्यम्, श्रच्छब्दस्योपसंख्यानम्, अन्तः शब्दस्याङ्कि-विधिणत्वेषूपसर्गसंज्ञा वक्तव्या**)। इसके अतिरिक्त आचार्य भागुरि अव तथा अपि उपसर्गों के अकार का लोप करके पिहित तथा वगाहन रूपों को भी मानते हैं - **वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसगयोः**।

3.2.2 उपसर्गों के अर्थ

नाम तथा आख्यातों के मूल अर्थों में वैशिष्ट्यता अथवा नूतन अर्थ प्रकाशित करने के लिये उपसर्गों का प्रयोग होता है। इनके मुख्य कार्य को इस प्रकार परिभाषित किया गया है- **उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते, प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्।** अर्थात् उपसर्ग धातुओं के अर्थों को किसी अन्य अर्थ में प्रकाशित करने का भी सामर्थ्य रखते हैं, यथा- 'हृञ् हरणे' धातु का प्रयोग जब हम उपसर्गों के साथ करके प्रहार, आहार, विहार, संहार तथा परिहार इन पदों का प्रयोग करते हैं तब हमें इन सभी पदों का पृथक्-पृथक् मूल धातु से सर्वथा भिन्न अर्थ प्राप्त होता है।

अतः प्रयोग रूप में उपसर्ग के तीन प्रकार प्राप्त होते हैं- **धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते, तमेव विशिनष्टयन्युपसर्गगतिस्त्रिधा** (जैन शाकटायन धातुवृत्ति)। उपसर्ग में यह धातु के मुख्य अर्थ को बाधितकर उससे भिन्न अर्थ का बोध करता है। यथा- चिञ् धातु का अर्थ होता है 'चयन करना' किन्तु उप, उपसर्गपूर्वक उपचय का अर्थ होता है - 'वृद्धि करना'। इसी प्रकार कई स्थलों पर यह धातु के अर्थ को ही अनुवर्तित करता है। लोकयति का अर्थ है -देखता है, तथा अवलोकयति का अर्थ भी 'देखता है' होता है। इसका तृतीय प्रकार होता है कि जहाँ यह विशेषण रूप में मूल धात्वर्थ को अधिक विशिष्ट बनाता है। यथा- कम्पते का अर्थ होता है 'काँपता है' तथा आकम्पते का अर्थ होता है 'पूर्णरूपेण काँपता है'।

आचार्य गार्ग्य के मतानुयायी निरुक्तकार ने सभी उपसर्गों द्वारा स्वतन्त्र अर्थ के रूप में प्रदर्शित किया है। वस्तुतः ये अर्थभेद नाम तथा आख्यात के साथ संयुक्त करने पर परस्पर इनके अर्थों की अनुकूलता, प्रतिकूलता अथवा मूल के अनुसार ही अर्थ प्रतीति पर निर्भर करता है। आचार्य यास्क ने उपलक्षण के रूप में उपसर्गों की अर्थवत्ता प्रदर्शित करने के लिये एक-एक

अर्थों का परिगणन किया है। वस्तुतः उपसर्ग अनेकार्थक भी होते हैं किन्तु निर्देश हेतु अधिक प्रचलित अर्थ का प्रयोग यहाँ प्रदर्शित किया जा रहा है -

- **आ इत्यर्वागर्थे -** 'आ' उपसर्ग 'अर्वाक्' सन्निकृष्ट अर्थ में प्रयोग किया जाता है। वैश्वानरो वरमा रोदस्योराग्निः ससाद पित्रोरुपस्थम् (ऋग्वेद 7/6/6)॥ आ समुद्रादवरादा परस्मादाग्निर्ददे दिव आ पृथिव्याः (ऋग्वेद 7/6/7)। लोक में भी आनयति, आगच्छति आकण्ठ, आगमन, आरोहण, आकार, आहार, आदेश इत्यादि में प्रयोगों में समीप अर्थ में प्रयोग किया जाता है।

- **प्रपरेत्येतस्य प्रातिलोम्यम् -** 'प्र' तथा 'परा' ये दोनों उपसर्ग, पूर्वोक्त 'आ' उपसर्ग के विपरीत अर्थ को द्योतित करते हैं। यथा- अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते (ऋग्वेद 3/53/6) । अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि (ऋग्वेद 10/146/1)। इसी प्रकार परा उपसर्ग हेतु - परा याहि मघवन्ना च या हीन्द्र भ्रातरुभयत्रा ते अर्थम् (ऋग्वेद 3/53/5) । अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् (ऋग्वेद 1/164/31)। लोक में भी प्रबल, प्रताप, प्रक्रिया, प्रलाप, प्रयत्न तथा पराभव, पराक्रम, परामर्श, पराकाष्ठा इत्यादि प्रयोग प्राप्त होते हैं।

- **अभीत्याभिमुख्यम् -** 'अभि' इस उपसर्ग का आभिमुख्य अर्थात् सम्मुख अर्थ होता है। यथा- अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति । कृतानि या च कर्त्वा (ऋग्वेद 1/25/11)। अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु (ऋग्वेद 1/19/9)। लौकिक प्रयोग में अभिमुख, अभ्यागत, अभिप्राय, अभिकरण, अभिधान, अभिनव इत्यादि उदाहरण प्राप्त होते हैं।

- **प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम् -** 'अभि' उपसर्ग प्रतिलोम अर्थात् विपरीत अर्थ को 'प्रति' उपसर्ग परिभाषित करता है। यथा- प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः (ऋग्वेद 4/4/3)। दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः पिशङ्गं द्रापिं प्रति मुञ्चते कविः (ऋग्वेद 4/53/2)। लोक में भी प्रत्यक्ष, प्रत्यगात्र, प्रतीति इत्यादि प्रयोग प्राप्त होता है।

- **अति सु इत्यभिपूजितार्थे -** 'अति' एवं 'सु' ये दोनों उपसर्ग सम्मान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यथा- अत्यूर्मिर्मत्सरो मदः सोमः पवित्रे अर्षति (ऋग्वेद 9/17/2)। तां सु ते कीर्तिं मघवन्महित्वा यत्त्वा भीते रोदसी अह्वयेताम् (ऋग्वेद 10/54/1)। लौकिक प्रयोग में अतिशय, अत्याचार, अतिपात, अतिरिक्त, अतिक्रमण तथा सुगम, सुजन, सुकाल, सुलभ, सुपच, सुरम्य इत्यादि उदाहरण प्राप्त होते हैं।

- **निर्दुरित्येतयोः प्रतिलोम्यम् -** 'निर्' और 'दुर्' ये उपसर्ग सम्मानार्थ के विपरीत अर्थ को प्रकट करते हैं। यथा- अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् (ऋग्वेद 10/162/2)। लोक में निर्वाह, निर्गम, निर्णय, निर्मम, निर्यात, निर्देश तथा दुर्जन, दुराचार, दुर्लभ, दुर्दिन इत्यादि प्रयोग प्राप्त होते हैं।

- **न्यवेति विनिग्रहार्थीयौ -** 'नि' तथा 'अव' ये उपसर्ग विनिग्रह अर्थात् नियन्त्रण अर्थ को प्रकट करते हैं। यथा- त्वां ह्यग्ने सदमित्समन्यवो देवासो देवमरतिं न्येरिर इति क्रत्वा न्येरिरे (ऋग्वेद 14/1/1)। येषामाबाध ऋग्मियं इषः पृक्षश्च निग्रभे (ऋग्वेद 8/23/3)। अव स्थिरा

तनुहि यातुजूनाँ जामिमजामिं प्र मृणीहि शत्रून् (ऋग्वेद 4/4/5)। लोक में निषेध, निश्चित, निवारण, निपात, नियोग, निवास, निगम तथा अवकाश, अवनत, अवतार, अवमान, अवसर, अवधि इत्यादि प्रयोग प्राप्त होते हैं।

- **उदित्येतयोः प्रातिलोम्यम् -** 'उत्' यह उपसर्ग पूर्वोक्त 'नि' एवं 'अव' उपसर्ग के विपरीत अर्थ को व्याख्यायित करते हैं। यथा- उदग्ने तिष्ठ प्रत्या तनुष्व न्यमित्राँ ओषतात् तिग्महेते (ऋग्वेद 4/4/4)। लौकिक प्रयोग में उत्कर्ष, उदय, उत्पत्ति, उत्कृष्ट, उत्पात, उद्धार इत्यादि उदाहरण प्राप्त होते हैं।

- **समित्येकीभावम् -** विभिन्न पदार्थों को एक स्थान पर अथवा एक सादृश्य के साथ प्रस्तुत करना एकीभाव कहलाता है, 'सम्' उपसर्ग उसी एकीभाव के अर्थ को प्रकट करता है। यथा- सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनाँसि जानताम् (ऋग्वेद 10/191/2)। लोक में संगम, संवाद, संतोष, संस्कार, समालोचना, संयुक्त इत्यादि प्रयोग प्राप्त होते हैं।

- **व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम् -** 'वि' तथा 'अप' ये उपसर्ग पूर्वोक्त एकीभाव के विपरीत अर्थ को प्रकट करते हैं। यथा- सूकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताळ्हि वि मृधो नुदस्व (ऋग्वेद 10/180/2)। अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम् (ऋग्वेद 10/34/2)। लोक में भी वियोग, विवरण, विमान, विज्ञान, विदेश, विहार तथा अपमान, अपयश, अपकार, अपहरण, अपसरण, अपादान, अपराध, अपकर्ष इत्यादि प्रयोग प्राप्त होते हैं।

- **अन्विति सादृश्यापरभावम् -** 'अनु' उपसर्ग सादृश्य के अपरभाव को अथवा सादृश्य तथा अपरभाव दोनों के अर्थ को प्रसंगानुसार व्याख्यायित करता है। यथा- पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः (ऋग्वेद 6/54/5)। निर्यदुहे शुचयोऽनु जोषमनु श्रिया तन्वमुक्षमाणाः (ऋग्वेद 6/66/4)। लौकिक प्रयोग में अनुशासन, अनुवाद, अनुभव, अनुराग, अनुशीलन, अनुकरण इत्यादि उदाहरण प्राप्त होते हैं।

- **अपीति संसर्गम् -** 'अपि' उपसर्ग दो पदों के परस्पर सम्बन्ध को परिभाषित करता है, संसर्ग का अर्थ होता है सम्बन्ध है, जो सम्बन्धी से भिन्न हो। यथा- उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि (ऋग्वेद 4/40/4)। अथा देवानामप्येतु पाथः (ऋग्वेद 2/3/9)। लोक में अपिधान, अपिहित इत्यादि प्रयोग प्राप्त होते हैं।

- **उपेत्युपजनम् -** 'उप' उपसर्ग सामीप्य अथवा आधिक्य अर्थ को प्रस्तुत करता है। यथा- उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् (ऋग्वेद 10/10/10)। लौकिक प्रयोग में उपवन, उपकूल, उपकार, उपहार, उपार्जन, उपेक्षा, उपादान, उपपत्ति इत्यादि उदाहरण प्राप्त होते हैं।

- **परीति सर्वतो भावम् -** 'परि' यह उपसर्ग सर्वतोभाव अर्थ को प्रकट करता है। यथा- परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः (ऋग्वेद 9/107/1)। लोक में परिक्रमा, परिजन, परिणाम, परिमाण, परिश्रम इत्यादि प्रयोग प्राप्त होते हैं।

- **अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वा -** 'अधि' यह उपसर्ग उच्च भाव तथा ऐश्वर्यभाव को

प्रकाशित करता है। यथा- स नो विश्वा दिवो वसूतो पृथिव्या अधि (ऋग्वेद 9/57/4)। लौकिक प्रयोग में अधिकार, अधिपति, अध्यात्म, अधिगत, अध्ययन, अधीक्षक, अध्यवसाय इत्यादि उदाहरण प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त रूपों द्वारा विभिन्न उपसर्गों के अर्थों को आचार्यों ने विवेचित किया है, उन अर्थों को प्रयोगों के अनुसार उचित अर्थों के प्रकाशन के लिये उपयोग किया जाना चाहिये **'एवमुच्चावचानान्प्राहुस्त उपेक्षितव्याः'**। वस्तुतः दुर्गाचार्य वर्णित करते हैं कि उपसर्गों के अनेक अर्थ होते हैं परन्तु आचार्य यास्क ने उपलक्षण हेतु उपसर्गों की अर्थवत्ता के प्रदर्शन के लिये इनका एक-एक अर्थ वर्णित किया है। आचार्य यास्क ने इन उपसर्गों को अत्यन्त सुनियोजित तथा भावप्रधान रूप में वर्णित किया है, इनके क्रम को आचार्य ने उपसर्गों की अनुलोमता तथा विलोमता के आधार पर निर्धारित किया गया है, जो पूर्णतः वैज्ञानिक है।

3.3 उपसर्ग विषयक विविध मत

उपसर्गों के अर्थों के विषय में विद्वत्परम्परा में मतभेद है कि उपसर्गों का स्वयं का अर्थ होता है कि नहीं। एक पक्ष यह है कि उपसर्ग द्योतक होते हैं जब वे नामाख्यात के साथ संयोजित होते हैं तभी अर्थ में विशेष चमत्कृति उत्पन्न करते हैं। अपरपक्ष यह है कि उपसर्ग स्वयं वाचक होते हैं उनमें स्वयं अर्थ विद्यमान होता है। इस तरह उपसर्गों के द्योतकत्व तथा वाचकत्व के दो पक्ष प्राप्त होते हैं। अब इन्हीं दोनों मतों की समीक्षा की जा रही है-

3.3.1 उपसर्गों का द्योतकत्व

आचार्य यास्क के अनुसार द्योतकतापक्ष के प्रवर्तक आचार्य शाकटायन हैं। उनके अनुसार उपसर्ग नाम एवं आख्यात पदों के साथ संयुक्त होकर मात्र अर्थ का द्योतन करते हैं एवं उनका स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं होता है, क्योंकि उनका वाक्य में स्वतन्त्र प्रयोग नहीं प्राप्त होता है, यथा- गो, पुरुष, अश्व, हस्ति अथवा वर्तते, भवति, अस्ति आदि प्राप्त होते हैं। वे नाम एवं आख्यात पदों के साथ समन्वित होकर वर्णसमुदाय के रूप में अर्थबोधक होते हैं, उनमें निहित वर्णों का पृथक् अर्थबोध नहीं होता है - **न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः, नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति।** इसी प्रकार का वर्णन बृहद्देवता में भी प्राप्त होता है - **निपाताश्चादयो ज्ञेयाः प्रादयस्तूपसर्गकाः । द्योतकत्वात् क्रियायोगे लोकादवगता इमे ॥ उपसर्गास्तु विज्ञेयाः क्रियायोगेन विंशतिः । विवेचयन्ति ते ह्यर्थं नामाख्यातविभक्तिषु (बृहद्देवता)।**

निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य यह प्रतिपादित करते हैं कि उपसर्ग की प्रकृति मात्र आख्यात के साथ संयुक्त होकर अर्थ प्रकटीकरण की है। उपसर्ग, किसी भी शब्द के समीप रहकर नवीन अर्थों को द्योतित करते हैं -**आख्यातमुपगृह्यार्थविशेषमिमे तस्यैव सृजन्तीत्युपसर्गाः।**

इस प्रकार उपसर्ग से संयुक्त होकर द्योतित होने वाला नूतन विशिष्टार्थ, वस्तुतः नाम अथवा आख्यात का होता है। मूलतः यह उपसर्ग के संयोग से उसी प्रकार अभिव्यञ्जित होता है, यथा दीपक के प्रकाश से द्रव्य के गुण विशेष परिलक्षित होते हैं, किन्तु वे गुण वस्तुतः होते द्रव्य के हैं, न कि दीपक के। इस प्रकार उपसर्ग दीपक हैं, उसके द्वारा प्रकाशित होने वाले विशिष्ट अर्थ नाम अथवा आख्यात के अर्थ होते हैं, न कि उपसर्ग के, उपसर्ग तो द्योतकमात्र हैं - **स एष नामाख्यातयोरेवार्थविशेष उपसर्गसंयोगे सति व्यज्यते, यथा प्रदीपसंयोगे द्रव्यस्य**

गुणविशेषोऽभिव्यज्यमानो द्रव्याश्रय एव भवति न प्रदीपाश्रयः एवमिहापि बोध्यम्।

3.3.2 उपसर्गों की वाचकता या वाचकत्व

आचार्य गार्ग्य वाचकतापक्ष के प्रवर्तक आचार्य हैं, जिनका अनुकरण निरुक्तकार यास्क भी करते हैं। निरुक्तकार, गार्ग्याचार्य के मत को उपस्थापित करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि नाम एवं आख्यात से वियुक्त होने पर भी उपसर्गों के बहुविध प्रकार के अर्थ होते हैं - **उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः।** वैदिक मन्त्रों में उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग भी प्राप्त होता है, अतः निःसन्देह उनका स्वतन्त्र अर्थ भी होता था। मन्त्रों के साथ-साथ ब्राह्मणों एवं कल्पसूत्रों में भी इनका स्वतन्त्र प्रयोग भी प्राप्त होता है। उत्तरकाल में लौकिकभाषा में इनके पृथक्-पृथक् प्रयोग प्राप्त नहीं होते हैं, मात्र नाम अथवा क्रिया के साथ उपसर्गों का प्रयोग प्राप्त होता है।

पद चतुष्टयों में नाम एवं आख्यात पदों के साथ-साथ उपसर्ग पद का भी विधान है, अतः उन्हें भी पृथक् पदों के रूप में स्वीकृत किया गया है। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है तथा उनके भी अपने-अपने विविध अर्थ होते हैं, अतः उपसर्ग द्योतक नहीं हैं, उनमें वाचकता होती है। निःसन्देह उपसर्ग स्वभावतः ऐसे अर्थ के वाचक होते हैं जो नामपदों अथवा आख्यातपदों के ही अर्थों में विशिष्टता उत्पन्न करते हैं किन्तु यह वैशिष्ट्य उनके संयोजन से ही उत्पन्न होता है तथा उनके बिना वह केवल अन्तर्निहित मूल अर्थ को ही अभिव्यक्त करते हैं। उपसर्ग लगने के पश्चात् नाम अथवा आख्यात पद के अर्थ जो वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है वही उपसर्गों का अर्थ समझा जा सकता है। एक-एक उपसर्ग के बहुविध अर्थ हो सकते हैं जो नामार्थ, आख्यातार्थ के साथ संयोजित होकर एक भिन्न अर्थ को प्रकट करते हैं, यथा- नील एवं पीत वर्ण संयुक्त होकर एक भिन्न वर्ण को प्रदर्शित करते हैं।

महाभाष्यकार पतञ्जलि उपसर्गों का स्वरूप बताते हुए यह मत प्रस्तुत करते हैं कि जहाँ क्रियावाची शब्द उपस्थित होता है, वहाँ वे उस क्रिया की विशेषता वर्णित करते हैं, जहाँ क्रियावाची शब्द प्रयुक्त नहीं होता वहीं वे साधन (कारक, कर्ता, कर्म आदि) सहित क्रिया को कहते हैं अर्थात् संसाधन क्रिया को अध्याहृत करते हैं - **उपसर्गाश्च पुनरेवमात्मका यत्र क्रियावाची पद श्रूयते तत्र क्रियाविशेषमाहुः, यत्र हि न श्रूयते तत्र संसाधनां क्रियामाहुः।**

निरुक्त के टीकाकार आचार्य स्कन्दस्वामी उपसर्गों के वाचकत्व पक्ष के सम्बन्ध में यह मत प्रस्तुत करते हैं कि जिस प्रकार आख्यात का अपना एक ही अर्थ होता है, इसी प्रकार उपसर्गों के अर्थों का अन्वयव्यतिरेक के द्वारा उस अर्थ का प्रत्यायन किया जा सकता है। पुनश्च उपसर्ग के अर्थ का प्रतिपादन शब्दशक्ति की स्वभावसिद्धता से भी किया जा सकता है, क्योंकि जहाँ शब्द होगा, वहाँ उसका अर्थ भी अवश्य होगा - **तद्भावाभावित्वेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृत्यादिवदर्थविशेषस्य प्रतीतेः, शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्च, नामाख्यातानुवर्त्तित्वेनैव प्रयुक्तानां प्रकर्षाद्यर्थविशेषप्रबोधसामर्थ्यमुद्भवति** (स्कन्दस्वामी - 1/1/3)। प्रातिशाख्यकारों ने भी निरुक्तकार के वाचकता पक्ष का ही समर्थन किया है तथा **'उपसर्गो विशेषकृत्'** वचनों द्वारा उन्हें विशिष्ट अर्थों से युक्त स्वीकृत किया है।

इस प्रकार उपसर्गों की द्योतकता एवं वाचकता को प्रतिपादित करते हुये दो पक्ष प्राप्त होते हैं। इसमें निरुक्तकार यास्क, वाचकता पक्ष का समर्थन करते हैं तथा उसकी सिद्धि हेतु यथोचित प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं, वे सभी उपसर्गों के विविध अर्थों में से बहुप्रचलित अर्थ को ग्रहणकर

उनका प्रतिपद पाठ भी करते हुये उनकी अर्थवत्ता को भी प्रमाणित करते हैं।

अभ्यास प्रश्न - 1

1. उपसर्ग शब्द में कौन सा प्रत्यय प्रयुक्त है?
   क. घञ् प्रत्यय
   ख. अ प्रत्यय
   ग. अण् प्रत्यय
   घ. ण प्रत्यय
2. आचार्य पाणिनि ने उपसर्गों के लिये कितने सूत्रों का विधान किया है?
   क. दो सूत्र
   ख. एक सूत्र
   ग. तीन सूत्र
   घ. चार सूत्र
3. 'उपसर्गो विशेषकृत्' यह लक्षण किस ग्रन्थ का है?
   क. ऋक्प्रातिशाख्य
   ख. वाजसनेयी प्रातिशाख्य
   ग. बृहद्देवता
   घ. गोपथब्राह्मण
4. पाणिनिशास्त्र में उपसर्गों की कितनी संख्या परिगणित है?
   क. 21
   ख. 20
   ग. 22
   घ. 24
5. किन आचार्य के मत में अपि उपसर्ग के अकार का लोप होता है?
   क. आचार्य शाकटायन
   ख. आचार्य भागुरि
   ग. आचार्य पाणिनि
   घ. आचार्य पतञ्जलि
6. आ उपसर्ग किस अर्थ में प्रयुक्त होता है ?
   क. सम्मानार्थ अर्थ
   ख. सादृश्य अर्थ

ग. सन्निकृष्ट अर्थ

घ. नियन्त्रण अर्थ

7. आभिमुख्य अर्थ के लिये कौन सा उपसर्ग प्रयुक्त होता है?

क. प्रति उपसर्ग

ख. सम् उपसर्ग

ग. वि उपसर्ग

घ. अभि उपसर्ग

8. अव उपसर्ग के विपरीत अर्थ को कौन सा उपसर्ग व्याख्यायित करता है?

क. सु उपसर्ग

ख. उत् उपसर्ग

ग. आ उपसर्ग

घ. अभि उपसर्ग

9. सामीप्य अर्थ के लिये कौन सा उपसर्ग प्रयुक्त होता है?

क. प्रति उपसर्ग

ख. सम् उपसर्ग

ग. वि उपसर्ग

घ. उप उपसर्ग

10. वाचकता पक्ष का प्रवर्तन कौन से आचार्य करते हैं?

क. आचार्य शाकटायन

ख. आचार्य पतञ्जलि

ग. आचार्य गार्ग्य

घ. आचार्य गौतम

3.4 निपातों का परिचय एवं उनके प्रभाग

पदों के चार विभाजन- नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात में से पूर्व में उपसर्ग का विवेचन किया गया। इसके पश्चात् आचार्य यास्क पदों के चतुर्थ विभाग निपातों की व्याख्या करते हैं। 'निपात' इस शब्द की व्युत्पत्ति 'नि' उपसर्गपूर्वक 'पत्' धातु से **ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः** (पा॰ सू॰ 3/1/140) सूत्र से ण प्रत्यय द्वारा होती है। अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण ये शब्द निपात इस संज्ञा द्वारा अभिहित हैं- **उच्चावचेष्वर्थेषु।** इन शब्दों की पृथक् श्रेणी है, ये शब्द वस्तुतः भावप्रधान नहीं होते हैं।

अतः इनका परिगणन आख्यातों में तथा सत्त्व प्रधान न होने के कारण नामों में नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार नाम और आख्यात से संयुक्त नहीं होने के कारण स्वतन्त्र अर्थाभिधान

करने से उपसर्गों में भी समन्वित नहीं किये जा सकते हैं।

इसी प्रकृति के कारण बृहद्देवता में इनका लक्षण इस प्रकार किया गया है- **वशात्प्रकरणस्यैते निपात्यन्ते पदे पदे** (बृहद्देवता - 2/93), अर्थात् प्रकरण के अनुसार स्थान विशेष में इनका प्रयोग किया जाता है। यही अर्थ ऋक्प्रातिशाख्य में भी प्राप्त होता है- **निपातानामर्थवशान्निपातनात्** (ऋक्प्रातिशाख्य 12/26)। व्याकरणशास्त्र में आचार्य पाणिनि ने इन पदों का प्रतिपद पाठ किया है - **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** (पा॰ सू॰ 1/4/56) तथा उन्होंने **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (पा॰ सू॰ 1/1/37) सूत्र से उसकी अव्यय संज्ञा का भी विधान किया है, जिससे इनमें विभक्तियों की संयुति नहीं प्राप्त होती है। वाक्य में कारकादि सम्बन्धों की संयुति के बिना ही इनका प्रयोग किया जाता है। **'निपाता आद्युदात्ता भवन्ति'** (फि॰सू॰ 4/80) इस सूत्र के द्वारा निपातों के स्वर विधान में इन्हें आद्युदात्तत्व माना गया है। आचार्य कौटिल्य भी निपात का यही लक्षण मानते हैं कि च आदि अव्ययों की निपात संज्ञा होती है - **अव्ययाश्चादयोः निपातः (अर्थशास्त्र 2/21)।**

वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि निपातों की व्याख्या एक कारिका के द्वारा इस प्रकार करते हैं- **निपाता द्योतकाः केचित् पृथगर्थाभिधायिनः, आगमा इव केऽपि स्युः संभूयार्थस्य वाचकाः** (वाक्यपदीय 2/192)। कतिपय निपात अर्थ के द्योतक होते हैं, यथा- वृक्षश्च प्लक्षश्च इत्यादि उदाहरणों में निपात 'च' समुच्चय अर्थ का द्योतन करता है। इसी प्रकार कतिपय निपात अर्थ के वाचक होते हैं, यथा- शश्वत्, युगपत्, एकपदे इत्यादि, पृथक् अर्थ को भी प्रकाशित करते हैं। कतिपय निपात आगमों की भाँति सम्भूय अर्थों को भी प्रकाशित करते हैं।

वैयाकरण नागेशभट्ट इनके अर्थों के विषय में यह मत व्यक्त करते हैं कि प्रयोगों के अनुसार इनकी वाचकता अथवा द्योतकता सिद्ध होती है- **एषां द्योतकत्वं वाचकत्वञ्च यथाकार्यं, यथाप्रयोगं बोद्ध्यमित्यन्यत्र विस्तरः** (लघुशब्देन्दुशेखर)। लौकिक वाक्य में उनकी उपस्थिति के क्रम का स्थान सुनियोजित हो यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि यह स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करते हैं। अतः वाक्य में इनकी उपस्थिति पूर्व में अथवा पश्चात् कहीं भी नियोजित की जा सकती है, किन्तु वैदिक मन्त्रों की आनुपूर्वी नियत होती है, अतः उनमें पाठानुसार ही इनका क्रम निर्धारित होता है- **उपरिष्टात् पुरस्ताद्वा द्योतकत्वं न भिद्यते, तेषु प्रयुज्यमानेषु भिन्नार्थेष्वपि सर्वथा** (वाक्यपदीय 2/193)।

कतिपय विद्वान् यह तर्क भी प्रस्तुत करते हैं कि जिन पदों का प्रकृति-प्रत्यय विभाग स्पष्टतया द्योतित नहीं होता है, उनकी निपात संज्ञा होती है। वैदिक एवं लौकिक उभयतः निपात स्वयं भाषाओं में अर्थों के सहित प्रयोग किये जाते हैं, किन्तु प्रयोगदृष्ट्या मात्र कुछ वैदिक भाषा में अथवा लौकिक भाषा में ही प्रयुक्त होते हैं। वस्तुतः अर्थ के आधार पर निपातों के विभागों का परिज्ञान करने पर, निपात दो प्रकार के होते हैं - 1. सार्थक निपात 2. निरर्थक निपात। इन्हें यास्काचार्य ने सामान्यतः इस प्रकार विवेचित किया है- सार्थक निपात के रूप में उपमार्थक अर्थात् सादृश्यार्थक तथा कर्मोपसंग्रहार्थक। मूलतः सादृश्यार्थक निपात उपमा के प्रसंग में सादृश्यार्थक तथा अन्य प्रयोगों में कर्मोपसंग्रहार्थक अथवा निरर्थक भी हो सकते हैं। यास्क ने प्रयोगों के अनुसार इन निपातों को तीन रूपों में विभाजित किया गया है- (i) उपमार्थक निपात, (ii) कर्मोपसंग्रहार्थक निपात, (iii) पदपूरण निपात। अधुना इन पर क्रमशः सोदाहरण विचार करते हैं-

3.4.1 उपमार्थक निपात

उपमान की उपमेय से उपमा देने के लिये उपमार्थक निपातों का प्रयोग होता है। उपमा पद को परिभाषित करते हुये निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य कहते हैं कि किसी प्रसिद्ध वस्तु के गुणों की किसी अप्रसिद्ध वस्तु से तुलना करके उसके गुणों को प्रकाशन ही उपमा कहा जाता है- **उपमा नाम कस्मिंश्चिदेवार्थे यः प्रसिद्धो गुणस्तस्यान्यस्मिन्नप्रसिद्धतमगुणेऽर्थे शब्दमात्रेण यदुपसंयोज्य तमुणप्रकाशनं क्रियते सोपमा** (नि॰ दुर्गाचार्य 1/2)। उपमार्थक निपातों का परिगणन करते हुये आचार्य यास्क ने इव, न, चित् तथा नु इन चार निपातों को उपमार्थ माना है- **तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति**। इनका विवेचन इस प्रकार है-

- **इव -** लोक में तथा अन्वध्याय अर्थात् वेद में इव निपात, उभयतः उपमा अर्थ में प्रयुक्त होता है - **इवेति भाषायां चान्वध्यायं च -** अ॒ग्निरि॑व मन्यो त्विषि॒तः स॑हस्व सेना॒नीर्नः॑ सहुरे हू॒त ए॑धि (ऋग्वेद 10/84/2)। इसी प्रकार लौकिक प्रयोगों में - अग्निरिव तीक्ष्णः, चन्द्र इव मुखरम्यम्।

- **न -** इस निपात का प्रयोग, उपमार्थ हेतु केवल वैदिक भाषा में प्राप्त होता है किन्तु निषेध रूप में लौकिक तथा वैदिक भाषा में उभयतः इसका प्रयोग प्राप्त होता है। यास्ककार वैदिक प्रयोग में उपमार्थक 'न' शब्द हेतु **हू॒त्सु पी॒तासो॑ युध्यन्ते दु॒र्मदा॑सो॒ न सु॒रा॑याम्** (ऋग्वेद 8/2/12) तथा निषेधार्थक 'न' शब्द **वि हि सोतो॒रसृ॑क्षत॒ नेन्द्रं॑ दे॒वमम॑मंसत** (ऋग्वेद 10/86/1) उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसे बृहद्देवता में इस प्रकार परिभाषित किया गया है - **उपमाऽर्थे नकारस्तु क्वचिदेव निपात्यते, मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु प्रतिषेधे त्वनल्पशः** (बृहद्देवता)। वाक्य में 'न' शब्द का प्रयोग जब सम्बन्धित शब्द से पूर्व प्रयुक्त होता है, तब उसका अर्थ निषेध होता है तथा जब पश्चात् प्रयुक्त होता है, तब इसका अर्थ उपमा होता है- **पुरस्तादुपाचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति, उपरिष्टादुपाचारस्तस्य येनोपमिमीते**।

- **चित् -** चित् निपात वस्तुतः अनेकार्थक है- **चिदित्येषोऽनेककर्मा**। इसके उपमार्थक प्रयोगों के साथ सम्मानार्थक, निन्दार्थक आदि प्रयोग भी प्राप्त होते हैं- उपमार्थक - मि॒त्रश्चि॒द्धि ष्मा॑ जुहु॒राणो दे॒वाञ्छलोको॒ न या॒तामपि॒ वाजो॒ अस्ति॑ (ऋग्वेद 10/12/12); सम्मानार्थक - आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात् इति पूजायाम्; निन्दार्थक - कुल्माषांश्चिदाहर इत्यवकुत्सिते, कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति।

- **नु -** यह निपात भी अनेकार्थक है - **नु इत्येषोऽनेककर्मा।** इसके उपमार्थक प्रयोगों के साथ हेतुकथन, अनुप्रश्न आदि प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। यथा- उपमार्थ में - वृ॒क्षस्य॒ नु ते॑ पुरुहूत व॒या व्यू३तयो॑ रुरुहुरिन्द्र पू॒र्वीः (ऋग्वेद 6/24/3); हेतुकथनार्थ में - इदं नु करिष्यति; अनुप्रश्न में - कथं नु करिष्यति, नन्वेतदकार्षीत् इति।

3.4.2 कर्मोपसंग्रहार्थक निपात

कर्मोपसंग्रहार्थक निपात वे होते हैं जो किसी दूसरे अर्थ का संग्रह करते हैं। जिसके अन्तर्गत च, वा, आ, अह, ह, किल, हि, ननु, खलु, शश्वतम्, नूनम् इत्यादि निपातों की गणना की गयी है। इनके पृथक्-पृथक् अर्थों का विवरण भी विविध मन्त्रों तथा लौकिक भाषा में इनके प्रयोग से

प्राप्त होते हैं। कर्मोपसंग्रहार्थक निपात सामासिक पदों के मध्य में उनके अर्थों अथवा धातुओं में निहित भिन्न अर्थों की निश्चितता निर्धारित करते हैं- **अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते न त्वौद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात्स कर्मोपसंग्रहः**। ये कर्मोपसंग्रहार्थक निपात दो अथवा दो से अधिक समस्त पदों के मध्य उपस्थित होकर अर्थों अथवा धातुओं की भिन्नता को निश्चित रूप में सूचित करते हैं।

- **च -** दो संयोज्य पदों के पश्चात् 'च' का प्रयोग होता है अथवा एक के साथ भी यह प्रयोग प्राप्त होता है- **चेति समुच्चयार्थ उभाभ्यां संप्रयुज्यते।** यह वैदिक मन्त्रों में प्रथम अथवा द्वितीय किसी भी एक पद के साथ प्राप्त होता है किन्तु लौकिक भाषा में यह द्वितीय पद के पश्चात् ही प्राप्त होता है। यथा- अहं च त्वं च॑ वृत्रहन्त्सं युज्याव सनिभ्य आ (ऋग्वेद 8/62/11)।

- **आ -** च निपात की ही भाँति आ निपात का प्रयोग भी समुच्चयार्थ में होता है- **एतस्मिन्नेवार्थे।** यथा- प्रेदु॑ हव्यानि॑ वोचति देवेभ्य॑श्च पितृभ्य आ (ऋग्वेद 10/16/11)।

- **वा -** वा निपात विचार अर्थ में प्रयुक्त होता है, अर्थात् यह करणीय है कि नहीं। इसके अतिरिक्त यह च निपात के ही समान समुच्चयार्थ में भी प्रतीत होता है- **वेति विचारणार्थे, अथापि समुच्चयार्थे भवति।** यथा- विचारार्थ में - हन्ताहं पृथिवीमिमां नि द॑धानीह वेह वा॑ (ऋग्वेद 10/119/9); समुच्चयार्थ में - वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः (मैत्रायणीसंहिता 1/11)। स्कन्दस्वामी के मतानुसार विकल्प, संशय, पक्ष की व्यावृत्ति तथा आवृत्ति आदि अर्थों में भी 'वा' निपात का प्रयोग प्राप्त होता है।

- **अह तथा ह -** दो अथवा दो से अधिक पदों में किसी एक पद को विशेष महत्त्व प्रदान करने के लिये, उस पद के उपरान्त प्रयुक्त होता है- **अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीया, पूर्वेण संप्रयुज्येते।** इसका प्रयोग विशेष नियमन अर्थ में होता है। यास्ककार इसके लौकिक उदाहरण इस प्रकार वर्णित करते हैं- यह वही करे और वह ये करेगा (अयमहेदं करोत्वयमिदम्)। इसी प्रकार- वह इसे करेगा एवं इसे नहीं करेगा- इदं ह करिष्यतीदं न करिष्यतीति। वैदिक मन्त्रों में इनके उदाहरण इस प्रकार हैं- **आदह॑ स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे (ऋग्वेद 1/6/4); नाक॑स्य पृष्ठे अधि॑ तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह॑ देवेषु॑ गच्छति (ऋग्वेद 1/125/5)।**

- **उ -** इस निपात का भी अर्थ पूर्ववत् 'अह' तथा 'ह' के ही अनुसार होता है, विशेष नियमन अर्थ में, किन्तु इसके प्रयोग अनुवर्ती पद अर्थात् द्वितीय पद के साथ होता है, जिसे कम महत्त्व दिया जाता है- **अथाप्युकार एतस्मिन्नेवार्थ उत्तरेण**– ये मिथ्याभाषण करते हैं, सत्यभाषण वे करते हैं- मृषेमे वदन्ति सत्यमु ते वदन्तीति। इसी प्रकार- तमू॑ अकृण्वन्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरू॑पाः (ऋग्वेद 10/88/10); वयमु॑ त्वा दिवा॑ सुते वयं नक्तं॑ हवामहे (ऋग्वेद 8/64/9)। इसे पदपूरणार्थक निपात के रूप में भी प्रयोग किया जाता है- **अथापि पदपूरणः** - इदमु, तदु । इसी प्रकार- इदमु त्यत् पुरुतमं॑ पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुना॑वदस्थात् (ऋग्वेद 4/51/1); तदु प्रयक्षतममस्य कर्म॑ दस्मस्य चारुतममस्ति दंस॑: (ऋग्वेद 1/62/6)। लौकिक भाषा में इसका प्रयोग प्राप्त नहीं होता है।

- **हि -** हि अनेकार्थक निपात है, जिसका हेतुकथन, अनुप्रश्न, पृच्छा, निषेध आदि अर्थों में

प्रयोग किया जाता है। यास्क इसे असूया अर्थ में भी वर्णित करते हैं- **हीत्येषोऽनेककर्मा - इदं हि करिष्यति इति हेत्वपदेशे । कथं हि करिष्यति इत्यनुपृष्टे । कथं हि व्याकरिष्यति इत्यसूयायाम् ।** यथा- हेतुकथन - इदं हि करिष्यतीति, इन्द्र॑वायू इ॒मे सु॒ता उप॒ प्रयो॑भि॒रा ग॑तम् (ऋग्वेद 1/2/4)। अनुप्रश्न - कथं हि करिष्यति, तमेव त्वं पश्यसीति तं हीत्यथ ह कद्रूरुवाच (शतपथब्राह्मणम् 3/6/2/4)। लौकिक भाषा में यह पदपूरणार्थक निपात के रूप में भी प्रयोग किया जाता है।

- **किल -** वैदिक तथा लौकिक भाषा में प्रसिद्धिवाचक है, यह ज्ञान की प्रसिद्धि को दर्शाता है- **किलेति विद्याप्रकर्षे।** यथा- स्वा॒दुष्किला॒यं मधु॑माँ उ॒तायं ती॒व्रः किला॒यं रस॑वाँ उ॒तायम् (ऋग्वेद 6/47/1)। इसी के साथ यह 'न' एवं 'ननु' निपातों के साथ प्रयुक्त होकर अनुप्रश्न अथवा प्रश्न उपस्थापित करता है। 'न' तथा 'ननु' शब्द निषेधार्थक निपात हैं यह किल निपात के साथ प्रयुक्त होकर प्रश्नवाचक वाक्य निर्मित करते हैं- **अथापि न ननु इत्येताभ्यां संप्रयुज्यतेऽनुपृष्टे - न किलैवम्, ननु किलैवम् ।**

- **मा -** मा निपात वैदिक तथा लोकभाषा में उभयतः निषेधार्थक रूप में प्रयोग किया जाता है - **मेति प्रतिषेधे।** यथा- कर्षण मत करो, मत लाओ - **मा कार्षीः, मा हार्षीरिति** च। मा ते सखा॑यः सदमिद् रि॑षाम यच्छा॑ तो॒काय॒ तन॑याय॒ शं योः (ऋग्वेद 4/12/5)।

- **खलु -** इसी प्रकार खलु निपात निषेध के साथ-साथ पादपूरण तथा निश्चय अर्थ में ही प्रयोग किया जाता है - **खल्विति च - खलु कृत्वा, खलु कृतम्।** यथा- मि॒त्रं कृ॑णुध्वं खलु॑ मृ॒ळता॑ नो॒ मा नो॑ घो॒रेण॑ चरता॒भि धृ॒ष्णु (ऋग्वेद 10/34/14)। **अथापि पदपूरणः - एवं खलु तद् बभूवेति**। आचार्य पाणिनि से इसे सूत्रप्रयोग द्वारा भी निर्देशित किया है - **अलङ्खल्वोः प्रतिषेयोः प्राचां क्त्वा** (पा॰सू॰ 3/4/18)। अन्य अर्थों में भी यह निपात प्राप्त होता है, जो इस प्रकार हैं, यथा- वाक्यालंकार, जिज्ञासा, अनुनय, नियम, निश्चय, हेतु, विषाद आदि। लोकभाषा में बहुधा इसके प्रयोग पादपूरणार्थक रूप में ही प्राप्त होता है। दुर्गाचार्य के अनुसार इस निपात का प्रयोग भाषाओं के स्थान-विभिन्नता के कारण 'खलु' शब्द के अर्थ में भिन्नता प्राप्त होती है- **देशभाषाव्यवस्थयैवंजातीयानामुपेक्षितव्यः क्वचित्प्रयोगः** (निरुक्त 1/2)।

- **शश्वतम् -** इस निपात का प्रयोग विचिकित्सा अर्थ में होता है - **शश्वदिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्**। विचिकित्सा का अर्थ दुर्गाचार्य तथा आचार्य स्कन्द निश्चय मानते हैं- **विचिकित्सा नाम विवेकपूर्वकोऽवधारणाभिप्रायः** (दुर्गाचार्य 1/2); **विचिकित्सेति यद्यपि लोके सन्देह उच्यते.... तथापीहोदाहरणेष्वसम्भान्न सन्देहो विचिकित्सोच्यतेत्रिहि? निश्चयः** (स्कन्दस्वामी)। वैदिक भाषा में इसका प्रयोग नित्य अर्थ में प्राप्त होता है। नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होने पर यह निपात रूप में प्रतीत होता है, परन्तु इसे निपात रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता है। पुनश्च आचार्य यास्क इसका परिगणन निपात रूप में करते हैं। इसी प्रकार जब इस निपात का प्रयोग शश्वत् के रूप में होता है तब अस्वयम्पृष्ट होता है तथा शश्वत् के पश्चात् एवम् का प्रयोग होता है, तब इसका अनुप्रश्न अर्थ होता है। यथा- शश्वदेवम् - इत्यनुपृष्टे एवं शश्वत् - इत्यस्वयं पृष्टे।

- **नूनम् -** यह निपात वैदिक भाषा में निश्चयार्थक है, जो ब्राह्मणग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। यह निपात पदपूरण के रूप में भी प्रयुक्त होता है तथा लौकिक भाषा में निश्चय अर्थ में ही

प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ होता है -अधुना। **नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम् उभयमन्वध्यायं विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च।** यास्काचार्य ने इसका अद्यतनम् अर्थ में प्रयोग किया है - न नूनमस्त्यद्यतनम्। दुर्गाचार्य 'विचिकित्सा' का अर्थ 'विवेकपूर्ण अवधारण' करते हैं तथा स्कन्दस्वामी इसका अर्थ 'निश्चय' वर्णित करते हैं। **न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद् यदद्भुतम्। अन्यस्यं चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं विनश्यति ॥**

3.4.3 पादपूरण या पदपूरण निपात - निरर्थक निपात

पदपूरण वे निपात हैं जो वेद में मन्त्रों में पादों की पूर्ति के लिये प्रयुक्त होते हैं। ये निरर्थक निपातों की श्रेणी में आते हैं। पदपूरण निपात वे निपात होते हैं जो किसी पद्य अथवा गद्य में मात्र वाक्यपूर्ति अर्थात् छन्दपूर्ति अथवा वाक्यों में लयबद्धता की पूर्ति हेतु प्रयुक्त होते हैं, वस्तुतः उनका कोई अर्थ विशेष नहीं होता है, वे अनर्थक ही होते हैं। पदार्थ अथवा वाक्यार्थ के अन्य पदों के द्वारा पूर्ण होने पर जो पद शेष रहते हैं, वे पदपूरणार्थक निपात हैं, परन्तु जब पदपूरण कहे जाने वाले निपात वाक्य के आदि या मध्य में आते हैं, तब उन्हें अर्थ की प्राप्ति होनी चाहिये। यथा- 'नूनं सा ते' यहाँ 'नूनम्' निपात का प्रयोग पूर्व में किया गया है, अतः यहाँ इसके अर्थ को परिसमाप्त स्वीकृत नहीं करना चाहिये।

आचार्य यास्क ने चार पदपूरण निपातों का उल्लेख किया है- कम्, ईम्, इत्, उ किन्तु जब इनका निहितार्थ अर्थ सम्भव न हो, अर्थात् प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न हो रहा हो इनके अर्थ से वाक्यार्थ में कोई विशेष परिवर्तन न हो, ये तभी अनर्थक होते हैं। इसके अतिरिक्त ये निपात अर्थवान् भी होते हैं। वाक्य में अर्थ का परिलक्षण न होने पर पादपूर्ति ही इनका एकमात्र प्रयोजन माना गया है। यास्क ने इव, खलु, नूनम् तथा सीम् इन निपातों का परिगणन भी पादपूरणार्थक निपातों में किया है यदि ये अनर्थक हों।

- **सीम् -** यास्काचार्य के अनुसार सीम् निपात परिग्रह अर्थात् सभी ओर ग्रहण करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है- **सीमिति परिग्रहार्थीयो वा, पदपूरणो वा।** इसका प्रयोग पदपूरणार्थ भी होता है। लौकिक भाषा में सीम् का प्रयोग प्राप्त नहीं होता है। इसका प्रयोग ईम् रूप में भी प्राप्त होता है - प्र सीमादित्यो असृजत्। प्रासृजदिति वा । प्रासृजत् सर्वत इति वा । वि सीमतः सुरुचो वेन आवः इति च ।

- **त्व -** त्व शब्द निपात है कि नहीं इसके विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। यास्क इसके विनिग्रह अर्थ में स्वीकृत करते हैं, जिसका अनुदात्त एवं सर्वनाम के रूप में प्रयोग किया जाता है। 'त्व' पद अर्द्धनाम अर्थात् सर्वनाम रूप में स्वीकृत करते हैं- **त्वो नेम इत्यर्द्धस्य, तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्।** कुछ लोग इसे निपात मानते हैं और यह युक्ति देते हैं कि चूँकि यह अनुदात है; अतः यह निपात है, अन्यथा नाम पद अनुदात्त कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए यास्क कहते हैं कि दृष्टव्ययं तुभवति अर्थात् नाम पद अनुदात्त हो या नदहो, किन्तु विभक्ति वचनान्तरूप ने अवश्य मिलता है भी अतः निपात नहीं हो सकता । इस प्रकार 'त्व' सर्वनाम है, निपात नहीं, यास्क का यही अभिमत है?

वे निपात जिनका वाक्य प्रयोग में कोई विशिष्ट अर्थ प्रकाशित नहीं होता है, उसे ही निरर्थक निपात के रूप में परिगणन किया गया है, तथा इनका प्रयोग पदपूराणार्थक रूप में किया जाता है। यथा- इव, न, चित्, नु, कम्, ईम् आदि। इसके अतिरिक्त आचार्य माधवभट्ट ने इसके

अतिरिक्त अथ, अध, आत्, उत्, उत, किल, घ, च, चित्, न, नाम, वै, स्म, ह इत्यादि निपातों को भी वाक्यार्थ में अर्थ प्रतीति न होने पर पदपूर्णाक निपात स्वीकृत किया है- **स्फुटत्वोद्ग्रहणादिश्च क्वचित् सूक्ष्मः क्वचिद् स्फुटः। यत्र स्फुटास्तदा सार्थाः सूक्ष्मे स्युः पूरणा** इति (ऋग्वेदानुक्रमणी 3.1.18)।

इस प्रकार निरुक्तकार आचार्य यास्क ने 15 अर्थों में कुल 33 सार्थक निपातों का परिगणन किया है - अनुपृष्ट - न, न किल, न चेत्, ननु, ननु किल, शश्वत् ; अवकुत्सित अर्थ में चित्; असू यार्थक - हि; अस्वयम्पृष्ट - शश्वत्; उपमा - इव, चित्, न, नु; परिग्रह अर्थ में सीम्; परिमयार्थक- नेत्; पूजार्थक चित्; प्रतिषेधार्थक - खलु, न, मा; विचारणार्थक वा निपात; विचिकित्सा - नूनम्, शश्वत्; विद्याप्रकर्ष अर्थ में किल; विनिग्रहार्थ में अह, उ, त्व, ह; समुच्चयार्थक - आ, च, त्वत्, वा तथा हेत्वपदेश अर्थ में - नु, हि।

अभ्यास प्रश्न 2

1. निपातों की अव्यय संज्ञा कौन सा सूत्र करता है ?
   क. अव्ययादाप् सुपः
   ख. अव्ययीभावश्च
   ग. स्वरादिनिपातमव्ययम्
   घ. अव्ययीभावाच्च
2. निपातों का कौन सा स्वर होता है ?
   क. उदात्त स्वर
   ख. आद्युदात्त स्वर
   ग. अन्तोदात्त स्वर
   घ. अनुदात्त स्वर
3. इनमें से आचार्य नागेशभट्ट के ग्रन्थ क्या नाम है ?
   क. वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी
   ख. प्रौढमनोरमा
   ग. लघुशब्देन्दुशेखर
   घ. अष्टाध्यायी
4. निपातों के अर्थपरक कितने विभाग हैं ?
   क. दो
   ख. तीन
   ग. चार
   घ. एक
5. इव निपात का प्रयोग किस अर्थ में होता है ?
   क. निषेध के अर्थ में

ख. सम्मान के अर्थ में

ग. उपमा के अर्थ में

घ. ज्ञान के अर्थ में

6. इनमें से 'न' निपात का प्रयोग इस अर्थ में होता है ?

क. निषेध के अर्थ में

ख. सादृश्यार्थक के अर्थ में

ग. निन्दा के अर्थ में

घ. विकल्प के अर्थ में

7. विकल्प अर्थ में किस निपात का प्रयोग होता है ?

क. न निपात

ख. ननु निपात

ग. खलु निपात

घ. व निपात

8. अह निपात का प्रयोग किस अर्थ में होता है ?

क. उपमा के अर्थ में

ख. विनिग्रह के अर्थ में

ग. विकल्प के अर्थ में

घ. निषेध के अर्थ में

9. किल निपात का प्रयोग किस अर्थ में होता है ?

क. प्रसिद्धि के अर्थ में

ख. निषेध के अर्थ में

ग. उपमा के अर्थ में

घ. ज्ञान के अर्थ में

10. विचिकित्सा अर्थ में किस निपात का प्रयोग होता है ?

क. अह निपात

ख. हि निपात

ग. खलु निपात

घ. शश्वतम् निपात

3.5 सारांश

आचार्य यास्क पदों के जिन चतुर्विभाग- नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात की उदाहरण सहित व्याख्या प्रस्तुत की है, इसमें से इस प्रकरण में हमने उपसर्गों की प्रकृति का विशद

अध्ययन किया है, जिसमें सर्वप्रथम उपसर्ग किसे कहते हैं इसका परिज्ञान किया है। उपसर्ग वस्तुतः नाम तथा आख्यातों के साथ संयुक्त होकर उनके मूल अर्थों में वैशिष्ट्य अथवा सर्वथा नूतन अर्थ प्रकट करते हैं। आचार्य यास्क ने उनका परिगणन करके उनकी सोदाहरण व्याख्या भी की है।

इसके उपरान्त आचार्य यास्क दो मतों को उपस्थापित करते हैं जो उपसर्गों की द्योतकता तथा वाचकता को सिद्ध करता है। इसका तात्पर्य यह है कि उपसर्गों के पृथक् रूप में स्वयं के अर्थ भी होते हैं अथवा वे केवल नाम, आख्यात के साथ ही प्रयुक्त होने पर अर्थ प्रकट होते हैं। उपसर्गों की द्योतकता पक्ष को आचार्य शाकटायन तथा वाचकता पक्ष को आचार्य गार्ग्य के मतों के आधार पर उपस्थापित किया गया है।

इसके पश्चात् आचार्य यास्क पदों के अन्तिम विभाग निपातों का वर्णन करते हैं। उनके अनुसार निपात मूलतः दो प्रकार के ही होते हैं- सार्थक और अनर्थक। आचार्य यास्क सार्थक निपातों को दो भागों में विभाजित करते हैं- उपमार्थक तथा कर्मोपसङ्ग्रहार्थक। अनर्थक निपातों को पदपूरणार्थक निपात के रूप में वर्णित किया है। वे इनकी सोदाहरण व्याख्या भी प्रदर्शित करते हैं। जिसका स्वाध्याय इस पाठ में हम कर चुके हैं।

3.6 शब्दावली

- कथोपकथन - वार्तालाप; संवाद अथवा आपस में होने वाला सम्भाषण।
- महानाम्नी - महानाम्नी सामवेद का आर्चिक है।
- निर्वचन - किसी पद की अर्थपरक व्याख्या प्रस्तुत करना।
- निघण्टु - वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त पदों का संग्रह।
- आभिमुख्य - आमने-सामने अथवा सम्मुख होने का भाव।
- विनिग्रह - यह नियन्त्रण अथवा नियमन के अर्थ को प्रकट करता है।
- सर्वतोभाव - सभी प्रकार से; सम्पूर्ण रूप से भली-भाँति।
- आद्युदात्त - यह स्वरों के उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित भेदों के अन्तर्गत उदात्त का भेद होता है, जिसमें किसी पद का प्रारम्भिक स्वर उदात्त होता है।
- आनुपूर्वी - आनुपूर्वी का अर्थ होता है अनुगमन करना। आनुपूर्वी के तीन भेद पूर्वानुपूर्वी, पश्चातानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वी होते हैं।
- द्योतकत्व - प्रकाशन का भाव, किसी पदार्थ को प्रकट अथवा अभिव्यक्त करने का भाव अर्थात् द्योतकता पक्ष में उपसर्ग धातु के अर्थ को विशिष्ट रूप से प्रकाशित करते हैं।
- वाचकत्व - वाचक होने का भाव अथवा स्वयं का बोधकत्व अर्थात् वाचकता पक्ष में उपसर्ग स्वयं अर्थवान् होकर अर्थ का बोध कराते हैं।
- उपमा - किसी प्रसिद्ध वस्तु के गुणों की किसी अप्रसिद्ध वस्तु से तुलना करके उसके गुणों को प्रकाशन ही उपमा कहा जाता है - साधर्म्यमुपमा भेदे।

- समुच्चयार्थ - सुपरिभाषित समूह अथवा संग्रह के अर्थ को वर्णित करते हैं।
- साध्यभाव क्रिया – अवान्तर क्रियाओं से समन्वित कार्यरूप में परिणत पूर्ण निष्पन्न क्रिया।
- विभक्ति-प्रत्यय - नाम अथवा संज्ञाशब्दों के पश्चात् प्रयुक्त वे प्रत्यय 'विभक्ति' हैं, जो नाम अथवा संज्ञा शब्दों को पद निर्मित करते हैं और कारक परिणति के द्वारा क्रिया के साथ सम्बन्ध निर्देशित करते हैं।
- अव्यय - वे पूर्ण पद हैं, जिनमें लिंग, वचन, पुरुष, कारक आदि द्वारा कोई विकार अथवा रूप परिवर्तन नहीं होता है।
- वार्तिककार - मुनित्रय के रूप में प्रतिष्ठित वररुचि कात्यायन पाणिनीय सूत्रों के प्रसिद्ध वार्तिककार हैं।
- सन्निकृष्ट - इसका अर्थ होता है समीप में स्थित रहने वाला, निकटवर्ती।

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1 - 1. क, 2. घ, 3. ख, 4. ग, 5. ख, 6. ग, 7. घ, 8. ख, 9. घ, 10. ग।

अभ्यास प्रश्न 2 - 1. ग, 2. ख, 3. ग, 4. ख, 5. ग, 6. क, 7. घ, 8. ख, 9. क, 10. घ।

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

- निरुक्त - यास्क : (सम्पादक) प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2001
- निरुक्त पञ्चाध्यायी : (व्याख्याकार) महामहोपाध्याय छज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1985
- निरुक्त – यास्क : टीकाद्वय-सहित (सम्पादक) लक्ष्मणसरूप, भाग I&II, दिल्ली, 1982
- निरुक्त के पाँच अध्याय : (सम्पादक एवं अनुवादक) पं० शिवनारायण शास्त्री, इंडोलोजिकल बुक हाउस, दिल्ली, 1972
- निरुक्तम् : (सम्पादक) डॉ. जमुना पाठक, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी।
- निरुक्तम् (निरुक्तविवृत्ति सहितम्) : (टीकाकार) मुकुन्द झा, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
- यास्कप्रणीतम् निरुक्तम् - डॉ. देवेन्द्रनाथ पाण्डेय, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 1999
- Winternitz, Mourice : History of Indian Literature, Vol. 1, Pt. 1-2 (Translated into English by V. Srinivasa Sharma), M.L.B.D., Delhi, 1988.

3.9 बोध प्रश्न

1. उपसर्गों का द्योतकता पक्ष की व्याख्या कीजिये।
2. किन्हीं पाँच उपसर्गों के अर्थ तथा उनके वैदिक उदाहरण प्रस्तुत कीजिये।
3. उपमार्थक निपातों की सोदाहरण विवेचना कीजिये।
4. कर्मोपसंग्रहार्थक निपातों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिये।
5. निरर्थक निपात के विविध पर्यायों का व्याख्यान कीजिये।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 4 निरुक्त का प्रयोजन

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 निरुक्त का प्रयोजन

- 4.2.1 अर्थज्ञान
- 4.2.2 पदविभाग का ज्ञान
- 4.2.3 देवता का ज्ञान
- 4.2.4 व्याकरणशास्त्र तथा निरुक्त में अन्तःसम्बन्ध
- 4.2.5 ज्ञान की प्रशंसा एवं अज्ञान की निन्दा से वेद का भलीभाँति ज्ञान करवाना
- 4.2.6 आधुनिक भाषाविज्ञान की आधारशिला

4.3 सारांश

4.4 शब्दावली

4.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.7 बोध प्रश्न

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपको :

- वेदाङ्गों में वर्णित निरुक्तशास्त्र के ज्ञान-विज्ञान की परम्परा का परिज्ञान होगा।
- निरुक्तशास्त्र की उपादेयता का अभिज्ञान होगा।
- वैदिक मन्त्रों के अर्थावबोध की निरुक्त की प्रक्रिया का परिचय प्राप्त होगा।
- निरुक्तशास्त्र का विकास तथा इस शास्त्र का विकास किस प्रकार हुआ इसका परिज्ञान होगा।
- भाषा-विज्ञान के मूल स्रोतों के विषय में निरुक्तशास्त्र से सम्बन्धित तत्त्वों का परिज्ञान होगा।
- वेदों में निहित मन्त्रों में देवता से सन्दर्भित निरुक्त विषयक अभिरुचि जागृत होगी।
- वैदिक परम्परा के अन्तर्गत ज्ञान की परम्परा का अभिज्ञान होगा।

4.1 प्रस्तावना

वेद शाश्वत एवं अपौरुषेय हैं, जिनमें अनन्त ज्ञान-विज्ञान की राशि अन्तर्निहित है। आचार्य सायण के अनुसार वेदों द्वारा इष्टप्राप्ति एवं अनिष्ट निवारण हेतु अलौकिक उपायों का निर्देश किया गया है- **इष्टप्राप्त्य-निष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः**। इन्हीं वेदों के उपाङ्गों के रूप में षड्वेदाङ्गों की संकल्पना की गयी है, जो वेदों की अजस्र धारा का अनुशीलन करते हुए उनके उपकारक और प्रकाशक हैं तथा संरक्षण का कार्य करते हैं। यहाँ अङ्ग इस पद की निरुक्ति होती है- उपकारक, अर्थात् जिससे किसी वस्तु के स्वरूप का अभिज्ञान होता है, उसे अङ्ग कहा जाता है- **अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि**। सायण आचार्य ऋक्भाष्यभूमिका में इसे इस प्रकार वर्णित करते हैं - **अतिगम्भीरस्य वेदज्ञस्य अर्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि।** इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण में भी - **षडङ्गविदस्तत्तथाधीमहे इति** व्याख्यायित किया गया है।

श्रुतिपरम्परा से प्राप्त वैदिक वाङ्मय के संरक्षण के लिये ही वेदाङ्गों का उद्भव हुआ है । जिनसे उनमें निहित अर्थतत्त्व, यज्ञीयविधान, उच्चारणविधि, शुद्धाशुद्धि विवेक इत्यादि में भेद अथवा त्रुटि न हो सके। मन्त्रों के यथोक्त अर्थ के परिज्ञान, कर्मकाण्डीय विधान तथा इनमें निहित आनुपूर्वी को उसी रूप में सुरक्षित करने के लिये तथा असाक्षात्कृत धर्म ऋषियों के ज्ञानोपदेश के लिए इन वेदाङ्गों का प्रणयन किया गया - **साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः। ते अवरेभ्यो असाक्षात्कृतधर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । ...बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि च** (निरुक्त1/19)।

वेदों के यथार्थ ज्ञानोपलब्धि हेतु इन षड्वेदाङ्गों को वेदपुरुष के अङ्गों के रूप में कल्पित किया गया है, जिसमें छन्दशास्त्र को वेदपुरुष के चरणरूप, कल्पशास्त्र को हस्त, ज्योतिष्-शास्त्र को नेत्र, निरुक्तशास्त्र श्रोत्र, शिक्षाशास्त्र को नासिका तथा व्याकरणशास्त्र को वेद का मुख माना गया है - **छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते, ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्त श्रोत्रमुच्यते। शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते** (पाणिनीयशिक्षा-41,42)।

इन वेदाङ्गों में वेदमन्त्रों के यथोचित अक्षर-स्वर इत्यादि के उच्चारण विधि को शिक्षावेदांग में निकेचित किया गया है; इसी प्रकार वैदिक छन्दों के परिज्ञान हेतु छन्दशास्त्र; वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-यागादि की अनुष्ठानों के ज्ञान के लिए कल्पशास्त्र; नक्षत्र-तिथि-मुहूर्तादि के ज्ञान हेतु ज्योतिष्-शास्त्र; वैदिक पदों के अर्थावबोध के लिये निरुक्तशास्त्र तथा वैदिक एवं लौकिक पदों व्युत्पत्ति, शुद्धाशुद्धि विवेक हेतु व्याकरणशास्त्र की रचना की गयी है। निरुक्त भाषाशास्त्र का एक अनुपम रत्न है तथा आधुनिक भाषाशास्त्र की आधारशिला भी है।

निरुक्तशास्त्र की संकल्पना वेदपुरुष के श्रोत्ररूप में की गयी है, जिसकी व्याख्या करते हुये सायणाचार्य कहते हैं कि जहाँ पदों का संग्रह करके अर्थपरिज्ञान किया जाता है, वही निरुक्तशास्त्र है - **अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्।** इस प्रकार निरुक्त के दो प्रारूप प्राप्त होते हैं - पदों का संग्रह तथा पदों का निर्वचन करके अर्थ का ज्ञान करवाना। निघण्टु ग्रन्थ में हमें आचार्यों द्वारा अर्थपरिज्ञान हेतु वैज्ञानिक विभाजन के सहित पाँच अध्यायों में वेदमन्त्रों के पदों का संकलन प्राप्त होता है। इसके उपरान्त इन संकलित पदों का क्रमानुसार निर्वचन किया गया है। इसी निघण्टुशास्त्र के भाष्यकार आचार्य यास्क हैं, जिन्होंने चतुर्दश

अध्यायों में तथा नैघण्टुक, नैगम तथा दैवत इन तीन काण्डों में इन पदों के अर्थावबोध हेतु सविस्तार विस्तृत अर्थविज्ञानपरक विवेचन किया है। यही निरुक्तशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है।

निरुक्तशास्त्र वस्तुतः वैदिक मन्त्रों की व्याख्या हेतु निर्वचन शैली का एक अद्भुत एवं महनीय संग्रह-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कतिपय वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त पदों की अर्थपरक व्याख्या की गयी है तथा उन मन्त्रों को उद्धृत भी किया गया हैं। एक-एक पद के सम्भावित अवयवों के द्वारा अर्थोत्पत्ति की गयी है, जिससे मन्त्रों के पदों का वास्तविक अर्थावबोध किया जा सके। निरुक्तशास्त्र के अधिकारी के विषय में स्वयं आचार्य यास्क संकेत करते हैं कि जो वैयाकरण नहीं है अर्थात् जिसे प्रकृति-प्रत्यय प्रत्युत जो इस शास्त्र का जिज्ञास हो तथा इसको समझने की सामथ्र्य रखता हो, उसे पढ़ाना चाहिए। विषयक व्युत्पत्तिशास्त्र का ज्ञान नहीं है, उसे नहीं पढ़ाना चाहिए।

निरुक्तशास्त्र के अधिकारी होने के साथ ही निरुक्तशास्त्र का प्रयोजन विषयक ज्ञान भी अत्यावश्यक है, क्योंकि जिस शास्त्र का अध्ययन करना है उसका विवेच्य विषय अर्थात् उसमें वर्णित विषय का प्रयोजन क्या है, यह जानना भी आवश्यक होता है। अतः क्रमानुसार निरुक्तशास्त्र के प्रयोजन विषयक अध्ययन इस इकाई में किया जायेगा।

4.2 निरुक्त का प्रयोजन

जिस प्रकार किसी भी कार्य की सिद्धि से पूर्व उस कार्य का यथोचित प्रयोजन स्पष्ट होना चाहिये, उसी प्रकार किसी भी शास्त्र के अध्ययन से पूर्व, उस शास्त्राध्ययन के प्रयोजन का परिज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक होता है। निघण्टुशास्त्र में तीन प्रकार के शब्दों का संग्रह किया गया है - एकार्थक, अनेकार्थक एवं देवता नामवाची शब्द। आचार्य यास्क ने निघण्टुशास्त्र में संकलित इन्हीं शब्दों का भाष्य किया है, इस शास्त्र का अध्ययन का उद्देश्य वैदिक मन्त्रों के अर्थ परिज्ञान, पद विभाग का ज्ञान, देवतादि के ज्ञान के साथ साथ वेदार्थ का बोध कराना है तथा वेदार्थ में प्रवृत्त होने के हेतु साथ ही आचार्य यास्क द्वारा ज्ञान की प्रशंसा भी की गयी है। शौनकीय बृहत्प्रातिशाख्य के द्वितीयवृत्तिकार देवमित्र के पुत्र विष्णुमित्र इसके प्रयोजन का संकेत करते हुए कहते हैं कि - **पदविभागमन्नार्थदेवतानिरूपणार्थं शास्त्रं निरुक्तम्।**

आचार्य यास्क निघण्टु के पदों के निर्वचन से पूर्व निर्वचन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। यास्काचार्य ने रूढि तथा रूढिभूत वैदिक तथा लौकिक शब्दों का निर्वचन किया है। उनके अनुसार जिन शब्दों में उदात्तादि स्वर तथा शब्दों का व्याकरणानुसारी प्रकृति-प्रत्यय आदि के द्वारा अनुकूल अर्थ प्राप्त हो जाता है एवं उचित धातु के विकार से अन्वित हो जाता है, उन शब्दों का निर्वचन उसी के अनुसार किया जाना चाहिये - **तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्।** यथाकाल व्याकरणगत नियमों के अनुसार, प्रक्रिया अर्थ के अनुकूल परिलक्षित नहीं है, साथ ही धातुगत विकारों की प्रतीति भी न हो उस शब्द में, रचनापरक समानता से परीक्षण करना चाहिये। इसी के साथ ही शब्द में कोई समानता न हो तब शब्द के किसी अक्षर अथवा वर्णमात्र की समानता के आधार पर निर्वचन करना चाहिये। रूपसाम्य की दृष्टि में अर्थभेद को प्रधान स्वीकृत करके ही निर्वचन करना चाहिये, इसमें शब्द साम्य का विशेष महत्त्व नहीं होता है, अर्थ ही प्राधान्येन स्वीकृत किया जाता है।

वस्तुतः निर्वचन का अर्थ है, किसी भी पद की प्रकृति एवं प्रत्यय को पृथक्-पृथक् करके उसके स्वरूप को स्पष्ट करना है। इसी कारण निरुक्तशास्त्र चतुर्दश विद्यास्थानों में परिगणित होकर व्याकरणशास्त्र को पूर्ण करता है तथा व्याकरणशास्त्र के पूरक-शास्त्र के रूप में और स्वतन्त्र अर्थावबोधक शास्त्र के रूप में प्रसिद्ध है - **तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम्, स्वार्थसाधकञ्च।** इसी परिप्रेक्ष्य में निरुक्त शास्त्र के प्रयोजन को हम अधोलिखित प्रमुख विभागों में विभाजित कर सकते हैं -

4.2.1 अर्थज्ञान

निरुक्त शास्त्र का प्रथम प्रयोजन है अर्थावबोध। वैदिक मन्त्रों के पदों का यथाकाल अर्थ परिज्ञान नहीं होता है तब तक उनका प्रयोग श्रेयस्कर नहीं है, अतः वैदिक मन्त्रों के प्रयोगों हेतु अर्थज्ञान की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। निरुक्त के आरम्भ में **समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः** इस वचन के अनुसार वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त पदों का निर्वचन करना निरुक्त का सर्वप्रथम प्रयोजन है। जिससे उन सभी पदों का अर्थ स्पष्ट किया जाये तथा मन्त्रों में निहित अर्थों का परिज्ञान करके ही उन मन्त्रों का प्रयोग यज्ञादि अनुष्ठानों में किया जा सके । इसी प्रकार मन्त्रार्थ-ज्ञान के प्रयोजन की प्रशंसा में ऐसा कहा गया है कि जो अर्थज्ञ हैं (अर्थविज्ञान से युक्त हैं) वही सर्वविध मङ्गल को प्राप्त करते हैं, अन्य नहीं, मन्त्रार्थ ज्ञान के विना फलप्राप्ति नहीं होती है - **योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।** निरुक्त स्वयं शब्दों के अर्थों का साधक होता हुआ मुख्य प्रयोजन के रूप में वेदमन्त्रों के अर्थ का बोधक भी है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि भी यह प्रतिपादित करते हैं कि जिस प्रकार शारीरिक विज्ञान के बोध के पश्चात् आत्मा का ज्ञान अनिवार्य है उसी प्रकार ध्वनि, पद, वाक्य के ज्ञान के पश्चात् अर्थरूपी आत्मा का ज्ञान भी अत्यावश्यक है - **शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी, यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते** (वाक्यपदीय 1/118)।

इसका प्रतिपादन पूर्व की इकाई में वैदिक मन्त्रों की अर्थवत्ता को प्रतिपादित करते हुये आचार्य यास्क ने कौत्साचार्य के बहुविध तर्कों को समाधानपूर्वक लौकिक उदाहरणों तथा वैदिक मन्त्रों द्वारा यथोचित खण्डन किया है तथा मन्त्रों की अर्थवत्ता को प्रतिपादित भी किया है। उनके द्वारा कौत्साचार्य के आनर्थक्यता के प्रतिपादन हेतु दिये गये पुनरुक्ति दोष, अतिशयोक्ति दोष तथा निरर्थक प्रयोगादि तर्कों को यथानुक्रम समाधान किया है। वस्तुतः निरुक्त का कार्य वैदिक शब्दों के अर्थों का निर्णय करना है - **अथापि इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययः न विद्यते**। अर्थात् बिना निरुक्तशास्त्र के वेदमन्त्रों के अर्थों का यथार्थ परिज्ञान नहीं होता है, अतः निरुक्त का मुख्य प्रयोजन शब्दार्थावबोध के साथ वेदार्थ का ज्ञान करवाना है।

आचार्य शौनक ने भी बृहद्देवता में अर्थ को प्रधान तथा शब्द को उसके अधीन स्वीकृत किया है- **प्रधानमर्थः शब्दो हि तदुणायत्त इष्यते** (बृहद्देवता - 2/99) अर्थात् अर्थ से पदों की उत्पत्ति उसकी अभिधा शक्ति से होती है, इन्हीं पदों से वाक्यों के अर्थ का निर्णय होता है। अतः वाक्य पदों के समूह तथा पद वर्णों के समूह होते हैं।

इसी कारण आचार्य सायण ने निरुक्त का अन्य लक्षण भी वर्णित दिया है कि - **एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्थाः यत्र निःशेषेण उच्यन्ते तदपि निरुक्तम्।** अर्थात् एक-एक पद के सम्भावित अवयवार्थ जहाँ स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हों, उसकी निरुक्त संज्ञा होती है। वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थों में निर्वचन को बीजरूप में निर्देशित किया गया है, उनमें ऋषियों द्वारा पदों

के अर्थों को यथास्थान प्रदर्शित किया गया है। किसी भी शब्द का विश्लेषण मात्र ध्वनिरूप में नहीं होता अपितु उसका व्याख्यान द्वारा अर्थनिर्दिष्ट किया जाता है। इसी कारण यास्क ने शब्दों में अन्तर्निहित अर्थविज्ञान को अत्यन्त महत्त्व दिया है।

आचार्य यास्क इस बारे में स्पष्ट करने के लिए उदाहरणार्थ दो मन्त्रों को उद्धृत करते हैं - **उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्, उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः** (ऋग्वेद 10/74/4)॥ अर्थात् जो वेद का अध्ययन करते हुये उनमें निहित मन्त्रों का अर्थ ज्ञान नहीं करते हैं। वे वाणी के दर्शन करते हुये भी उसके यथार्थ दर्शन नहीं कर सकते हैं, वे उसका श्रवण करते हुये भी श्रवण नहीं कर सकते हैं। इसके विपरीत जिसे अर्थ का परिज्ञान हो जाता है, उसे वाणी स्वनिर्दिष्ट रहस्य को इस प्रकार उद्घाटित करती है, यथा ऋतुकाल में काम्यमाना सुवसना स्त्री अनावृत होकर सम्पूर्ण शरीर को पठि के लिए समापित कर देती है। तात्पर्यार्थ यह है कि अर्थज्ञों को ज्ञान स्वतः प्रकाशित कर देता है, किन्तु अर्थ के विना, मात्र कण्ठस्थीकरण से ज्ञान पूर्णता को प्राप्त नहीं करता है।

इसी प्रकार द्वितीय मन्त्र है- **उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु, अधेन्वा चरति मायया एष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्** (ऋग्वेद 10/74/5)॥ अर्थात् जो वाणी के साथ अर्थ के परिज्ञान से मित्रता करता है अथवा विद्वानों द्वारा वाणी के अर्थों का बोध करता है, वह वाणी के लाभ को प्राप्त हुआ अथतत्त्व को सम्बोधित करता है एवं जो वाणी के अर्थ को नहीं जानता, वह केवल शब्दरूप भाषण करता है। वह वाणी के फल अर्थात् अर्थ एवं फूल अर्थात् तात्पर्य के विना अध्ययन मात्र करता है, यथा जिस प्रकार वन्ध्या गो के सहित विचरण करते हुये फलप्राप्ति नहीं होती है, उसी प्रकार मनुष्य छलपूर्वक वाणी सहित विचरणमात्र करता है, उसे कोई फलप्राप्ति नहीं होती है। वस्तुतः देवता अथवा आत्म तत्त्व का ज्ञान ही फूल तथा फल है, जिसको वाणी के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तथा अर्थज्ञान से फलप्राप्ति होती है।

4.2.2 पदविभाग का ज्ञान

अर्थावबोध के मुख्य प्रयोजन के साधुत्व हेतु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है- पद की प्रकृति का ज्ञान। अतः निरुक्त का द्वितीय प्रयोजन है 'पदज्ञान करदामड'। निरुक्तकार ने विशद रूप में पदों का विभाजन करके उसकी विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से उसकी विवेचना की है। पदों के विभाजन से वाक्य में निहित अर्थ में स्पष्टता होती है तथा उसको अर्थ का बोध होता है। एतदर्थ सर्वप्रथम तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में **एकवर्णमिति पदम् (तैत्तिरीय प्रातिशाख्य 1/54)** यह उक्ति प्राप्त होती है, इसी प्रकार बृहद्देवता में भी एतदर्थ **वर्णसंघातजं पदम् (बृहद्देवता 2/117)** यह उक्ति प्राप्त होती है अर्थात् पद, वर्ण अथवा वर्णसमूहों से निष्पन्न होते हैं। इसके अनुसार एक अक्षर अथवा एक वर्ण को भी पद स्वीकृत किया जाता है। इसी प्रकार यजुर्वेद प्रातिशाख्य में **अर्थः पदमिति** कह कर इसे स्पष्ट किया गया है । लोकभाषा में भी वर्णों के संघात की ही पदसंज्ञा होती है।

इस सम्बन्ध में भाषागत समस्त पदों को दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है, जिससे शब्दों एवं उनसे अभिव्यक्त होने वाले अर्थों का ज्ञान किया जा सकता है - प्रथम विभाग, भाषिक शब्दों का जिन्हें हम प्रचलित भाषा में उपयोग करते हैं। सामान्य व्यवहार में इन शब्दों का प्रयोग भाषा में वाक्व्यवहार के लिये प्रयुक्त होता है। द्वितीय विभाग, नैगम उन पदों को जिनका प्रयोग केवल वैदिक वाङ्मय में ही प्राप्त होता है। सामान्यतः वैदिक तथा लौकिक पद

एक जैसे स्ताने किये जाते हैं किन्तु कतिपय वैदिक शब्द वेदमन्त्रों में ही प्राप्त होते हैं जो बहुधा लौकिक शब्दों के व्याकरण से इतर होते हैं।

इसी क्रम में आचार्य यास्काचार्य शब्द के नित्यानित्य का विचार भी करते हैं- औदुम्बरायणाचार्य के मत में शब्द अनित्य होते हैं तथा शब्द से उसके अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है। शब्द की सत्ता मात्र वाक् तथा इन्द्रिय तक ही होती है- **इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः**। यथाकाल जब इसका उच्चारण हो जाता है, तब इसकी सत्ता समाप्त हो जाती है, वह शब्द नष्ट हो जाता है। अतः शब्दों की आनुपूर्वी में प्रथम वर्ण के उच्चारण के पश्चात् अग्रिम वर्ण के उच्चारण के समय वह प्रथम वर्ण नष्ट हो जाता है यथा- 'रामः' इस उच्चारण में रकार के उच्चारण के पश्चात् आकार, मकार, अकार तथा विसर्ग के उच्चारण किया जाता है। इसमें रकार के उच्चारण के पश्चात् आकार के उच्चारण काल में रकार की सत्ता नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार अग्रिम क्रमानुसार पूर्व वर्ण की सत्ता भी नष्ट हो जाती है। यही शब्द का अनित्यत्व है।

इसका समाधान करते हुये आचार्य इस मत में तीन दोषों को प्रतिपादित करते हुये इसका खण्डन करते हैं कि यदि शब्द अनित्य है तब उनके चतुर्विभाग भी नहीं किये जा सकते हैं क्योंकि वाक्य में उनका उच्चारण एक साथ प्रयोग किया ही नहीं जा सकता है। इसी कारण उनमें प्रधान तथा अप्रधान अथवा विशेषण तथा विशेष्य का बोध भी नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार उनमें धातु तथा प्रत्यय का विभाग भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्यय उच्चारण काल में धातु की सत्ता ही नष्ट हो जायेगी। शब्द की नित्यता स्वीकृत करने से वाक्य में शब्दों का प्रधान अथवा अप्रधान भाव, उनके पदों के चार प्रकार के विभाजन तथा प्रकृति, प्रत्ययादि विभाग साथ ही उपसर्गों तथा निपातों का योग भी प्रतिपादित होता है।

अतः यास्क शब्द की नित्यता को स्वीकृत करते हुये - **व्याप्तिमत्वात् तु शब्दस्य** का प्रतिपादन करते हैं कि शब्द व्याप्तिमान् होने के कारण नित्य होते हैं जो संस्कार रूप में वक्ता एवं श्रोता की बुद्धि में विद्यमान रहते हैं तथा ध्वनियों द्वारा उनकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं होती है। वागिन्द्रिय द्वारा ये ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं तथा शब्द नित्य होता है। इसी नित्यत्व का प्रतिपादन महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे** इस उक्ति से में उद्घोषित किया है। इसी सिद्धान्त को भर्तृहरि, नागेश प्रभृति सभी आचार्यों ने शब्दब्रह्म तथा स्फोट सिद्धान्तों के रूप में प्रतिपादित किया है।

आचार्य यास्क ने पदों के चार विभागों का वर्णन किया है - **नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च**। अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात इन चार विभागों में पदों का विभाजन किया जाता है। वे स्वयं व्याख्यान करते हैं कि निरुक्तशास्त्र के विना पदों का विभाग नहीं किया जा सकता है- **अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते**, जिसके विना मन्त्रों के अर्थों का अभिज्ञान असम्भव है। वैदिक मन्त्रों में तथा व्यवहार में भी अर्थों के अनुसार पदों का प्रयोग किया जाता है, अतः अर्थज्ञान एवं पदविभाग ज्ञान में अन्तर्सम्बन्ध है अतः यह भी निरुक्तशास्त्र के मुख्य प्रयोजन के अन्तर्गत वर्णित किया गया है। आचार्य यास्क पदों के चतुर्थ विभागों में नाम का परिगणन सर्वप्रथम करते हैं। जिसे सत्त्व, द्रव्य अथवा प्रातिपदिक नामों से भी सम्बोधित किया जाता है। द्वितीय विभाग आख्यात, क्रिया के पूर्णता में सभी अवान्तर व्यापारों के साथ साध्यावस्था की प्रक्रिया के रूप में व्याख्यायित किया गया है। इसी प्रकार उपसर्गों तथा निपातों का, तृतीय एवं चतुर्थ पदों के रूप में किया गया है। जिसमें वे इनका परिगणन करते हुये नाम तथा आख्यातों से

इनकी स्वतन्त्र सत्ता तथा इनके अर्थों को सिद्ध करते हैं। यास्क ने विंशति उपसर्गों के बहुप्रचलित अर्थों का व्याख्यान किया है तथा निपातों की - उपमार्थक, कर्मोपसंग्रहार्थक तथा पदपूरणार्थक निपातों के अन्तर्गत परिगणना की है। इनके विस्तृत अर्थ, इनसे सम्बन्धित मतों का वर्णन तथा उदाहरणों सहित विवेचन, पूर्व की इकाइयों में किया गया है।

इसके उदाहरण के लिये यास्काचार्य दो मन्त्रों को उद्धृत करते हैं - **मयोभूर्वातो अभि वातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम्, पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृळ** (ऋग्वेद 10/169/1)॥ **योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि तमा नि षीद स्वानो नार्वा, विमुच्या वयोऽवसायाश्वान् दोषा वस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे** (ऋग्वेद 1/104/1)॥

इन मन्त्रों में 'अवसाय' पद प्रयुक्त है। यदि इन दोनों मन्त्रों में इस पद के अर्थ का परिज्ञान करना है तब व्याकरणशास्त्र के अनुसार व्युत्पत्ति से मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि यदि इस पद को तिङन्त पद स्वीकृत किया जाये तब अवसाय पद, अव उपसर्गपूर्वक षोऽन्तकर्मणि धातु से ल्यप् प्रत्ययान्त रूप है, इसी प्रकार यदि इसे सुबन्त पद स्वीकृत किया जाये तब यह अवस प्रातिपदिक का चतुर्थी एकवचनान्त रूप सिद्ध होता है जिसका अर्थ होता है 'पाथेय'। उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में कब इस पद का प्रयोग सुबन्त पद के रूप में करना है और किस स्थल पर तिङन्त पद का प्रयोग करना है यह सुनिश्चित करना आवश्यक है, यह केवल अर्थ परिज्ञान के माध्यम से ही ज्ञात किया जा सकता है, जो मूलतः निरुक्त का विषय है। इन मन्त्रों को संहिता के अन्तर्गत पदपाठ काल में 'अवसाय' जिस मन्त्र में सुबन्त पद के रूप में अभीष्ट है, उस स्थल पर पदपाठ में अवग्रह का प्रयोग नहीं किया जाता है, इसी प्रकार अन्य मन्त्र में तिङन्त पद का प्रयोग करने पर पदविभाग काल में अव उपसर्ग तथा 'साय' से निष्पन्न 'अवसाय' यह तिङन्त रूप अवग्रह के सहित 'अवऽसाय' इस रूप में निष्पन्न किया जाता है।

इसी प्रकार - **देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम, तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे** (ऋग्वेद 1/165/1)॥ **अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर, परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः** (ऋग्वेद 1/164/1)॥ इन मन्त्रों में व्याकरणशास्त्र के द्वारा 'निर्ऋत्या' इस पद में चतुर्थी, पञ्चमी अथवा षष्ठी विभक्ति में से किस विभक्ति का एकवचनान्त रूप प्रयोग किया जाये यह निर्णय निरुक्तशास्त्र की सहायता द्वारा अर्थ निर्धारण के उपरान्त ही किया जा सकता है। अतः निरुक्त के बिना पदविभाग का सम्यक् ज्ञान सम्भव नहीं है। इसी कारण यास्काचार्य ने इसे निरुक्त शास्त्र का द्वितीय प्रयोजन वर्णित किया है।

अभ्यास प्रश्न - 1

1. वेद इष्टप्राप्ति के साधक होते हैं, यह किस आचार्य का कथन है?
   क. आचार्य यास्क
   ख. आचार्य शौनक
   ग. आचार्य गार्ग्य
   घ. आचार्य सायण
2. वेदपुरुष का हस्त किसे कहा गया है ?
   क. शिक्षाशास्त्र

ख. कल्पशास्त्र

ग. व्याकरणशास्त्र

घ. निरुक्तशास्त्र

3. विद्या के कितने स्थान हैं ?

क. द्वादश

ख. एकादश

ग. चतुर्दश

घ. दश

4. अथापि इदमन्तरेण ..... अर्थप्रत्ययः न विद्यते। इस पंक्ति को पूर्ण करें ?

क. मन्त्रेषु

ख. निरुक्तेषु

ग. लौकिकेषु

घ. व्याकरणेषु

5. उत त्वरू पश्यन्न ददर्श वाचमुत.... यह मन्त्र ऋग्वेद के किस मण्डल से उद्धृत है ?

क. नवम

ख. प्रथम

ग. अष्टम

घ. दशम

6. एकवर्णमिति पदम्, यह किस ग्रन्थ से उद्धृत है ?

क. ऋक्प्रातिशाख्य

ख. तैत्तिरीय संहिता

ग. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

घ. वाजसनेयी प्रतिशाख्य

7. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे, यह किस आचार्य का कथन है ?

क. आचार्य वररुचि

ख. आचार्य पतञ्जलि

ग. आचार्य पाणिनि

घ. आचार्य भर्तृहरि

8. शब्द अनित्य किस आचार्य के मतानुसार होते हैं ?

क. गार्ग्याचार्य

ख. औदुम्बरायणाचार्य

ग. शाकटायनाचार्य

घ. गौतमाचार्य

9. यास्क ने कितने उपसर्गों का परिगणन किया है?
   क. द्वादश
   ख. एकादश
   ग. चतुर्दश
   घ. विंशति
10. तिङन्त अवसाय पद में कौन सा प्रत्यय है ?
   क. ल्यप् प्रत्यय
   ख. अण् प्रत्यय
   ग. यत् प्रत्यय
   घ. आय प्रत्यय

4.2.3 देवता का ज्ञान

निरुक्त के अध्ययन का तृतीय प्रयोजन है- **'अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशाः भवन्ति, तदेतेनोपेक्षितव्यम्'** अर्थात् वैदिक मन्त्रों द्वारा यज्ञादि आनुष्ठानिक कृत्यों में देवों के निमित्त आहुतियाँ प्रदान की जाती है। इन मन्त्रों द्वारा किस मन्त्र से किस देवता को किस स्थान पर आहुति दी जाये, इस प्रकार के विषयों के निर्णय में निरुक्त का ज्ञान अत्यन्त उपयोगी है। यज्ञानुष्ठानों देवताओं से सम्बन्धित अनेक विधियों के निर्देश प्रदान किये गये हैं। इनमें एक मन्त्रों के बहुधा दो अथवा दो से अधिक देवताओं के वर्णन भी प्राप्त होते हैं इनमें उस मन्त्र में निहित प्रधान देवता का निर्धारण करना तथा उसके अनुसार विधियों में प्रवृत्ति इन सभी कार्यों के लिये निरुक्तशास्त्र का अध्ययन अत्यावश्यक होता है, इसके फलस्वरूप यज्ञ-यागादियों को सुचारु रूप से सञ्चालित किया जा सकता है। न्यायभाष्यकार आचार्य वात्स्यायन वैदिक याज्ञिक विज्ञान को त्रयी-विद्या के साथ-साथ यज्ञादिकर्मों को ही मन्त्रों एवं ब्राह्मणग्रन्थों के प्रधान उद्देश्य के रूप में स्वीकृत करते हैं- **यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः**। गोपथब्राह्मण भी इसका संकेत करता है- **तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्** (गो॰ब्रा॰ 3/9/15)।

वैदिक संहिताओं में संकलित सूक्तों के प्रत्येक मन्त्र किसी न किसी देवता से सम्बद्ध होते हैं, बहुधा एक मन्त्र में अन्यान्य देवताओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु प्रधानरूप में जिस मन्त्र में जिस देवता का उल्लेख होता है उसी को उस मन्त्र का देवता स्वीकृत किया जाता है। इनमें मन्त्रों में स्तुति, कामना, प्रतिज्ञा, अवस्था, प्रशंसा आदि वर्णित विषयों के आधार पर यास्काचार्य ने ऋचाओं के सामान्यतः तीन प्रमुख विभाजन किये हैं - परोक्षकृत ऋचायें जिनमें अन्यपुरुषों का प्रयोग किया जाता है, प्रत्यक्षकृत ऋचायें जिनमें मध्यमपुरुष का प्रयोग किया जाता है तथा आध्यात्मिक ऋचायें जिनमें उत्तमपुरुष के प्रयोगों द्वारा स्वयं देवताओं द्वारा उपदेश किया जाता है। इस वर्गीकरण की वैज्ञानिकता पुरुषवाचक सर्वनामों के आधार पर स्वीकृत की गयी है। वरक्सूक्त की मन्त्रदृस्टि ऋषिकर अम्भृण ऋषि की पुत्री वागाम्भ्रणी है जो स्वयं इस सक्त में उपदेश करती है, जैसे अहं राष्ट्र संगमनी वसूमां.....आदि ।

देवविद्या के आधारभूत सिद्धान्तों की विषयवस्तु का वर्णन भी निरुक्तकार ने सप्तम अध्याय में किया है, जिसमें प्रसंगवश मन्त्रों में प्रमुख देवता का अनुसन्धान, मुख्यतः प्रतिपादन शैली के आधार पर मन्त्रों के विविध भेद, मन्त्रों की विषय अवधारणा, देवताओं की संख्या तथा उसके

आधार, देवताओं का आकार तथा प्रधान देवताओं सहित अन्य अवान्तर देवताओं का वर्णन भी किया है। इसके अतिरिक्त दैवतकाण्ड में परिगणित अनेक देवताओं के स्वरूपों का निरूपण भी किया गया है।

दवेता ज्ञान के विषय में निरुक्तकार यास्क एक वैदिक मन्त्र उद्धृत करते हुये इस प्रकार संकेत करते हैं - **त्वां हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने, इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः** (ऋग्वेद 6.4.7) । इस मन्त्र की अर्द्ध ऋचा में इन्द्र का वर्णन है तथा शेष अर्द्ध ऋचा में वायु का वर्णन है। शवस् अर्थात् बल से पूरण करना, इन्द्र का लिंग भी इसी में संकेतित है। इसी प्रकार **अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि, हत्वाय शत्रून्वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व** (ऋग्वेद 10.84.2) इस मन्त्र में अग्नि के लिंग हैं, किन्तु इस मन्त्र के प्रधान देवता मन्यु हैं। यज्ञकर्म में अभीष्ट कामना की सिद्धि के लिये यह आवश्यक है कि उस मन्त्र से प्रधान देवता को ही यज्ञाहुति प्राप्त हो, अतः देवता के यथोचित ज्ञान प्राप्ति हेतु निरुक्त का अध्ययन अपेक्षित है।

यज्ञीय अनुसन्धाता जो लिंगादि विचारों द्वारा देवता का निर्णय किया करते हैं , वह यहाँ बिना निरुक्त की सहायता से नहीं किया जा सकता है। निरुक्त यह प्रतिपादित करता है कि यहाँ प्रधान देवता अग्नि है तथा इन्द्र एवं वायु देवताओं का उपमेय रूप में वर्णन किया गया है, जिससे वह गौण हैं। दैवत-काण्ड में विवेचित देवताओं की संख्या, देवताओं का स्वरूप-चिन्तन इत्यादि भी इस प्रसंग में विशेष ध्यातव्य है। निरुक्तकार यास्काचार्य 'देव' शब्द के निर्वचन करते हैं- **देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा** द्युस्थानों भवतीतिवा । अर्थात् देव वह है, जो दान करता है, जो चमकता है एवं जो अन्य को प्रकाशित करता है। यज्ञादि अनुष्ठानों में वेदमन्त्रों से देवों की स्तुति की जाती है एवं उन देवों द्वारा यजमान की अभीष्ट कामना सिद्धि होती है।

देवताओं को निरुक्तकार ने वेदों में स्थान एवं काल के भेदानुसार तीन रूपों में विभाजित किया है। यथा- भूलोक के देव, अन्तरिक्षलोक के देव तथा द्युलोक के देव। पृथिवी-स्थानिक देव हैं - अग्नि, आप, पृथ्वी, सोम इत्यादि। इन्द्र, मरुत्, अपान्नपात्, विद्युत्, पर्जन्य सदृश अनेक देवता अन्तरिक्ष-स्थानिक देव हैं। इसी प्रकार सूर्य मित्र, वरुण, द्यु, पूषा, सविता, आदित्य, अश्विनी कुमार, ऊषा, रात्रि इत्यादि देव द्युलोक-स्थानिक हैं। इन तीनों में प्रत्येक लोक का एक देव प्रधान होता है और अन्य उसकी भिन्न अभिव्यक्तियाँ होते हैं। भूलोक के देवों में अग्नि, अन्तरिक्ष के इन्द्र, एंव वायु तथा द्युलोक के सूर्य ये मुख्य देव हैं। यास्क ने भी कहा है कि - **तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः, अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः इति।**

इन तीनों देवों के भिन्न-भिन्न कर्म तथा विशेषण हैं । अग्नि के विशेषण- भेद अथवा कार्य भेद से वैश्वानर, जातवेदा, नाराशंस, सुसमि, (तदनुपात् इत्यादि नाम तथा वायु से मातरिश्वा, इन्द्र, रुद्र, अपान्नपात् अनेक देवों के नाम तथा सूर्य से आदित्य, विष्णु, मित्र, वरुण, पूषा, भग, ऊषा, अश्विनीकुमार, सविता ये नाम प्रसिद्ध हुये हैं। यास्काचार्य देवता के विषय में यह मत व्यक्त करते हैं कि जैसे एक ही देह के भिन्न-भिन्न अङ्ग होते हैं, उसी प्रकार वे भिन्न देव एक आत्मा के अङ्ग स्वरूप होने के कारण अनेक नामों से स्तुत होते हैं तथा एक ही आत्मा के अन्यदेव प्रत्यंग होते हैं- **माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते**। वैदिक संहिता में भी देवविषयक सह/मति स्पष्टतः बताया गया है- **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः** (ऋग्वेद 1.164.4)।

निरुक्तशास्त्र में देवताओं के निर्दिष्ट विभागों को उन देवताओं के विभिन्न गुणों के द्वारा विभाजित किया गया है, जिससे यज्ञार्थ अनुष्ठानों के साथ-साथ देवताओं की अर्थपरक वैज्ञानिक अवधारणा में भी निर्देश किया गया है। ये सभी देवताओं के सम्पूर्ण भेद जो यास्क के द्वारा व्याख्यायित हैं, अन्य परम्पराओं के लिये अनुकरणीय हैं। निरुक्तशास्त्र के इन्हीं गुणों के कारण इसे यज्ञीय अनुष्ठानों में निहित कर्मकाण्डों तथा पूर्वमीमांसा का भी पूरक शास्त्र कहा जाता है।

4.2.4 व्याकरणशास्त्र तथा निरुक्त में अन्त:सम्बन्ध

व्याकरणशास्त्र के अन्तर्गत शब्दों का प्रकृति-प्रत्ययादि रूप विभाजन करके अर्थज्ञान किया जाता है तथा नवीन शब्दों की व्युत्पत्ति की जाती है- **व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः अनेनेति व्याकरणम्**। तैत्तिरीय-संहिता में भी उसका संकेत इस प्रकार किया गया है- **वाग्वै पुरा अव्याकृता अवदत् देवा इन्द्रमब्रुवान्निमां वाचं व्याकुर्विति.. तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृतावाग् उद्यते॥** इसी प्रकार **अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्** अर्थात् अर्थज्ञान हेतु स्वतन्त्ररूपेण पदों के निर्वचन द्वारा व्याख्यान किया जाता है, उसे ही 'निरुक्त' कहा जाता है। मन्त्र के अन्तर्गत पदों की अर्थप्राप्ति बिना निरुक्त के अध्ययन के सम्भव नहीं है, अतः निरुक्त पदों के अर्थ निर्धारण के लिए आवश्यक है। इसी कारण से इसे व्याकरण का पूरक शास्त्र माना गया है। अध्ययन किया जाता है- **इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते**।

मूलतः पाणिनीय व्याकरण पद व्युत्पत्ति से लेकर वाक्य की निष्पत्ति तक सर्वांगीण प्रक्रिया का अनुसरण करता है। अष्टाध्यायी के सूत्रों द्वारा वाक्यों में निहित वृत्ति पदों की रचना कारकादि के द्वारा निर्दिष्ट की जाती है। व्याकरणशास्त्र प्रथम चरण में पद का सम्पादन करता है जिसमें सुबन्त अथवा तिङन्त पदों की व्युत्पत्ति प्रदर्शित की जाती है, इसके उपरान्त पदोद्देश्यक नवीन रूपान्तरों के द्वारा यथा कृदन्त, तद्धित तथा समासादि के सुबन्तों की तथा सनाद्यन्तों द्वारा धातुओं के भी रूपान्तरों का सृजन करता है, पुनश्च कारकादि नियमों द्वारा वाक्यार्थ का बोध भी कराता है। व्याकरणशास्त्र मूलतः प्रत्ययांशों पर आधारित होकर व्याख्यान करता है इसके विपरीत निरुक्तशास्त्र प्रकृत्यंश पर आधारित होकर अर्थ निष्पत्ति करता है। इसी प्रकार पदों में स्वरों की प्रकृति किस प्रकार नियोजित होती है इसका भी व्याकरणशास्त्र के द्वारा ही परिज्ञान किया जा सकता है, निरुक्त में अर्थपरिवर्तन के द्वारा इसका संकेतमात्र ही प्राप्त होता है। किन्तु व्याकरणशास्त्र पदों में निहित प्रकृति की शुद्धता एवं अर्थ के परीक्षण के लिये निरुक्तशास्त्र का आश्रय ग्रहण करता है, धातुपाठ में निहित धातुओं के अर्थज्ञान हेतु निरुक्त ही सहायक होता है।

अतः निरुक्तशास्त्र तथा व्याकरणशास्त्र दोनों ही मन्त्रों में प्रयुक्त शब्दों के प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग तथा अर्थावबोध के लिये उपयोगी हैं। स्वरसंस्कारादि में निहित प्रक्रिया व्याकरणाधीन है तथा इनमें निहित विधानों द्वारा मन्त्रों में निहित पदों के अर्थों का बोध एवं देवतादि का निर्णय निरुक्तशास्त्र के अधीन है - निरुच्यते **निःशेषेणोपदिश्यते निर्वचनविधया तत्तदर्थबोधनाय पदजातं यत्र तन्निरुक्तम्** । इस प्रकार व्याकरण एवं निरुक्त शास्त्र में अन्तःसम्बन्ध है। वस्तुतः अर्थज्ञान के द्वारा ही उचित भेदादि परिज्ञान तथा व्याकरणप्रक्रिया के द्वारा शब्द-संस्कार सुनिश्चित होता है। व्याकरण शब्दों की बहिरङ्ग व्याख्या करता है तथा निरुक्त अन्तरङ्ग व्याख्या करके उनमें निहित अर्थों का बोध करता है। वस्तुतः शब्द एवं अर्थ परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से रहते हैं अतः व्याकरण एवं निरुक्त भी परस्पर आश्रित शास्त्र हैं।

महाभाष्यकार पतञ्जलि भी इस विषय में प्रकारान्तर से यह कहते हैं कि जो कुछ भी अधीत है अर्थात् अध्ययन किया गया है, जब तक उसका अर्थावबोध न हो, उसका अध्ययन व्यर्थ है, यथा अग्नि के बिना शुष्क काष्ठ का समूह प्रज्ज्वलित नहीं हो सकता है- **यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते, अनग्नौ इव शुष्कैधो न तद् ज्वलति कर्हिचित्।** निरुक्ताचार्य ने स्वरों के आधार पर भी अनेक वैदिक शब्दों के अर्थों का निर्धारण किया है क्योंकि स्वरों के आधार पर भी अर्थ में परिवर्तन होते हैं- **अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः, तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्र्यं, स्वार्थसाधकं च**। स्वर विषयक बात को अधिक स्पष्ट करते हुये आचार्य वैंकटस्वामी यह कहते हैं कि- **अन्धकारे दीपिकार्भिगच्छन्न स्खलति क्वचित्, एवं स्वरौः प्रणीतानां भवन्त्यर्था स्फुटा इति** (स्वरानुक्रमणी 8/12)। अर्थात् स्वरों की सहायता से किया गया अर्थ उसी प्रकार सन्देह रहित (स्फुट) होता है, जैसे कि दीपिका की सहायता से चलता हुआ मनुष्य अन्धकार में स्खलित नहीं होता है।

आचार्य भर्तृहरि ने भी शब्दार्थों में सन्देह होने पर स्वर को अर्थविशेष के परिज्ञान के लिये उपकारक सिद्ध किया है- **संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता, अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः। सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः, शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः** (वाक्यपदीय 2/317-318)। अतः उदात्तादि भेदों द्वारा स्वरों से सन्निहित मन्त्रों का अर्थ-परिज्ञान अत्यन्त सावधानीपूर्वक करना चाहिये, जिसके लिये निरुक्त एक उपकारक वेदांग है। अर्थ परिज्ञान की तात्त्विक दृष्टि में तो वस्तुतः स्वयं श्रुति ही मन्त्रों के अर्थनिर्णय में सर्वोत्कृष्ट प्रमाणभूत साधन है, जिसके साथ-साथ शब्दशक्ति, शब्दार्थज्ञान, स्वतःप्रामाण्य-परतः प्रामाण्य आदि का भी व्यवस्थित रूप में परिज्ञान हो जाता है, जैसा कि यास्क कहते हैं- - **अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि तर्कतः**।

4.2.5 ज्ञान की प्रशंसा

आचार्य यास्क निरुक्त के चतुर्थ प्रयोजन का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि वैदिक मन्त्रों का यथावत अर्थज्ञान हेतु ज्ञान की प्रशंसा एवं अज्ञान की निन्दा की जाती है- **अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति अज्ञाननिन्दा च**। **'अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति, अज्ञान-निन्दा च'** अर्थात् निरुक्त से ज्ञान की प्रतिष्ठा एवं अज्ञान की निन्दा होती है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रद्वत्ति-निकृत्ति हेतु ज्ञान की प्रशंसा करदे वेदाथ ज्ञान में प्रवृत्त किया जाता है तथा निन्दा के माध्यम से अदयार्थ ज्ञान से निवृत्त किया जाता है। क्योंकि वेदों का अर्थ बिना जाने हुये केवल मन्त्रोच्चारण मात्र से फलप्राप्ति नहीं होती है, अतः निरुक्त का अध्ययन आवश्यक है।

वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदादि में निहित गूढ रहस्य के अर्थावबोध हेतु निरुक्त वेदाङ्ग का अध्ययन एवं ज्ञान परमावश्यक है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के **'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'** इस वचन के अनुसार निष्कारण ही ज्ञान प्राप्ति के लिये, ब्राह्मण को इनका अध्ययन करना अनिवार्य बताया है, जिसके फलस्वरूप अज्ञान का निवारण भी गतार्थ है, क्योंकि इनमें निहित ज्ञान के अध्ययन के अभाव में ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य दुर्ग के अनुसार निरुक्त से मन्त्रों के अध्यात्म, अधियज्ञ और अधिदैव अर्थों का संज्ञान होता है। अतः मन्त्रों में निहित सभी प्रकार के पुरुषार्थों एवं कर्मों की ज्ञान की प्राप्ति के लिये निरुक्त का मार्ग ही प्रशस्त है। श्रुतिपरम्परा भारतीय वाङ्मय में ज्ञान का

आधान करती है, वैदिक मन्त्रों में बहुविध रूपों में ज्ञान की प्रशंसा एवं अज्ञान की निन्दा प्राप्त होती है, साथ ही पुण्यफल के कामनाधारी मनुष्यों के द्वारा विद्वानों की सर्वदा पूजा भी की जाती है। यही व्यवहार लोक में भी अत्यन्त प्रचलित है, लोक में भी ज्ञानवान् व्यक्ति ही पूजनीय तथा प्रशंसित होता है, उसे ही सभी प्रकार के अभीष्ट पुण्यफल की प्राप्ति होती है जैसा कि कहा गया है- **अतो ह्यध्यात्माधिदैवाधियज्ञाभिधायिनां मन्त्राणामर्थाः परिज्ञायन्ते। तदेवमखिलपुरुषार्थोपकारसमर्थं शास्त्रमिति न्याय्यमारब्धुम्। आह। क्व पुनर्ज्ञानं प्रशस्यतेऽज्ञानं च निन्द्यत इति। उच्यते लोके शास्त्रे च। लोके तावद् यः कश्चिद् विद्वान् भवति स पूज्यते पुण्यफलैषिभिर्जनैः।**

वस्तुतः जो ग्रन्थ का मात्र पाठकर्ता न होकर, उनमें निहित अर्थ का ज्ञाता है, वही सम्पूर्ण पुण्यफल सहित कल्याण को प्राप्त करता है। इस ज्ञानवान् पुरुष लोक में शिष्यों द्वारा सुपूजित होकर अन्त में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख से सर्वथा ऊपर होकर आत्मतत्त्व को प्राप्त करता है। इसके लिये आचार्य यास्क एक उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं- **स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थं, योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा**। अर्थात् जो वेद के अध्ययन के उपरान्त भी उसमें निहित अर्थ का परिज्ञान नहीं कर सकता है, वह वस्तुतः गर्दभ के समान है। इसके विपरीत जिसे अर्थ का बोध होता है, वह इस लोक में समस्त कल्याणों की प्राप्ति करते हुये ज्ञान के द्वारा पापों को विनष्ट करके, अन्ततः स्वर्गलोक की प्राप्ति करता है। वह विद्वान् अज्ञान-जन्य-दोषों को विनष्ट करके परम-तत्त्व, परमार्थ एवं कामना की सिद्धि करता है। दुर्गाचार्य भी इस विषय में यही कहते हैं कि जिस प्रकार गर्दभ चन्दनकाष्ठ के भार को वहन करता है, किन्तु उसका उपभोग नहीं कर सकता है, उसी प्रकार ग्रन्थ का केवल अध्ययनकर्ता उसी गर्दभ के समान, शास्त्र के अध्ययन एवं स्मरण रूपी भार का वहन करता है किन्तु उससे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर पाता है।

वेदों के अर्थ परिज्ञान से निःश्रेयस् तथा अभ्युदय की प्राप्ति होती है किन्तु इनके अर्थ से अनभिज्ञ वेदवेत्ता वेदाध्ययन के भार का अनुभव करता है, लेकिन उससे प्राप्तव्य फल से वञ्चित रहता है। अतः वेदार्थ का समुचित उपयोग करके निःश्रेयस् और अभ्युदय की प्राप्ति के लिये निरुक्तशास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिये। इस प्रकार 'ज्ञान प्रशंसा एवं अज्ञान निन्दा' के द्वारा आचार्य यास्क ने ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुये, यह प्रतिपादित किया गया है कि ज्ञान मनुष्य के मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कराता है। यह न केवल अभ्युदय को, अपितु पुरुष के परम पुरुषार्थ (मोक्ष) को प्राप्त कराने में भी महती भूमिका का निर्वहण करता है, अतः इसकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध है।

4.2.6 आधुनिक भाषाविज्ञान की आधारशिला

भाषा वस्तुतः शब्दों से ही व्यवहार में प्रयोग की जाती है, इसी कारण भाषाविज्ञान अथवा भाषाशास्त्र वास्तव में शब्द-विज्ञान अथवा शब्द-शास्त्र ही है। शब्दों की प्रकृति, उनका विभाग एवं उनमें निहित अर्थों की मीमांसा का कार्य, भाषा शास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। उपर्युक्त प्रयोजनों के साथ, निरुक्तशास्त्र का अध्ययन आधुनिक भाषाशास्त्र की आधारशिला के रूप में भी किया जाता है। यह शास्त्र, आधुनिक भाषाशास्त्र के महत्त्वपूर्ण अङ्ग अर्थविज्ञान के लिये, भारतीय परम्परा का आधारभूत ग्रन्थ है। निरुक्तशास्त्र के अनुसार निर्वचन करते हुये वर्णागम, वर्णविकार, वर्णनाश, आदिस्वरलोप, मध्यस्वरलोप, सवर्णलोप इत्यादि प्रमुख सिद्धान्तों के

आधार मूलतः आधुनिक भाषाशास्त्र की विविध शाखाओं, यथा- ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान, अर्थविज्ञान, वाक्यविज्ञान तथा निर्वचन विज्ञान इत्यादि के लिए मूलभूत सूत्र के रूप में प्राप्त होते हैं। यास्काचार्य ने वैदिक मन्त्रों के साथ-साथ लौकिक भाषा के अनुप्रयोगों को प्रदर्शित करते हुये, लोक में प्रचलित भाषा की अर्थमीमांसा भी की है- **अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्**।

इसके साथ निरुक्तकार, भाषा परिवर्तन एवं उसके विकास की यात्रा को भी संकेतित करते हुये, ध्वनिविज्ञान और अर्थविज्ञान के सम्मिलित प्रयोगों के आधार पर शब्दों का निर्वचन करते हैं। वस्तुतः निरुक्त की अर्थमीमांसा के अन्तर्गत, अन्तरङ्ग विषयों में अर्थ क्या है, इसका ज्ञान, शब्दार्थ सम्बन्ध, संकेतग्रह का विश्लेषण किया जाता है। इसी के साथ शब्दों के बहिरङ्ग विषयों के अन्तर्गत, शब्दों के अर्थ में विकास एवं उसकी दिशायें, परिवर्तन के कारण, एकार्थक एवं अनेकार्थक शब्दों में अर्थनिर्णय तथा संकेतग्रह के साधन आदि का अध्ययन किया जाता है। यही भाषाशास्त्र के अर्थविज्ञान सम्बन्धी अध्ययन का मूलभूत आधार भी है।

भाषाविज्ञान के समस्त उपाङ्गों के मूलस्रोत हमें निरुक्तशास्त्र में सूत्ररूप में प्राप्त होते हैं, जो शब्द-शक्तियों के साथ शब्दार्थ ज्ञान का विवेक भी प्रदान करते हैं। आधुनिक भाषाशास्त्र इन्हीं सभी उपाङ्गों के आधार पर भाषा के वैज्ञानिक चिन्तन को समग्र रूप में अध्ययन करता है, जिसका आदिस्रोत निरुक्तशास्त्र ही है। अतः भाषाशास्त्र रूपी ये सभी अङ्ग निरुक्तशास्त्र की उपादेयता को द्योतित करते हैं। अग्रिम अध्याय में निरुक्तशास्त्र के अनुसार भाषाशास्त्र के विविध आयामों की चर्चा विस्तरेण की जाएगी।

अभ्यास प्रश्न - 2

1. तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्, यह किस ग्रन्थ से उद्धृत है ?
   क. शतपथब्राह्मण
   ख. गोपथब्राह्मण
   ग. ऐतरेयब्राह्मण
   घ. कौशीतिकीब्राह्मण
2. त्वां हि मन्द्रतमममर्कशोकैर्वंवृमहे महिं नः, यह मन्त्र ऋग्वेद के किस मण्डल से उद्धृत है?
   क. अष्टम
   ख. प्रथम
   ग. नवम
   घ. षष्ठ
3. पृथिवी-स्थानिक देव हैं ?
   क. पर्जन्य
   ख. सोम
   ग. पूषा
   घ. सविता
4. वैदिक मन्त्र अर्थवान् नहीं होते हैं यह किस आचार्य कथन है?
   क. आचार्य शाकटायन

ख. आचार्य कौत्स

ग. आचार्य गार्ग्य

घ. आचार्य गौतम

5. एकं॑ सद् विप्रा॑ बहु॒धा..... यह मन्त्र ऋग्वेद के किस मण्डल से उद्धृत है?

क. षष्ठ

ख. प्रथम

ग. दशम

घ. तृतीय

6. तदिदं विद्यास्थानं ..... कात्स्न्र्यम्, इस पंक्ति को पूर्ण करें?

क. निरुक्तस्य

ख. व्याकरणस्य

ग. शब्दस्य

घ. अर्थस्य

7. वाग्वै पुरा अव्याकृता अवदत्, यह किस ग्रन्थ से उद्धृत है?

क. ऋक्प्रातिशाख्य

ख. वाजसनेयी प्रतिशाख्य

ग. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

घ. तैत्तिरीय संहिता

8. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता...., यह किस ग्रन्थ से उद्धृत है?

क. महाभाष्य

ख. तैत्तिरीय संहिता

ग. वाक्यपदीय

घ. बृहद्देवता

9. स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य.... इस कारिका में भारवहन कौन करता है?

क. ज्ञानी पुरुष

ख. आत्मा

ग. गर्दभ

घ. स्थाणु

10. इनमें से कौन सा विज्ञान आधुनिक भाषाशास्त्र की विविध शाखाओं के अन्तर्गत नहीं है ?

क. ध्वनिविज्ञान

ख. गतिविज्ञान

ग. अर्थविज्ञान

घ. रूपविज्ञान

4.3 सारांश

इस प्रकार निरुक्तशास्त्र के प्रणयन में, आचार्य यास्क के निम्नलिखित प्रयोजन ज्ञात होते हैं- प्रथमतः वे मन्त्रोक्त पदों का निर्वचन करते हुये तथा शब्द एवं अर्थ में सम्बन्ध स्थापित करते हुये, अर्थावबोध वेदार्थ का परिज्ञान कराते हैं साथ-साथ वैदिक पदों के प्रचलित अर्थों की प्रामाणिकता भी सिद्ध करते हैं। इसके साथ ही वे वैदिक देवताओं को केन्द्रित करते हुये, दैवत-काण्ड में उक्त शब्दों के आधार पर, देवताओं की प्रकृति तथा स्वरूप भी निर्दिष्ट करते हैं। मन्त्रों में निहित पदों के अर्थ होते हैं इस बात को सिद्ध करने के लिए यास्काचार्य ने कौत्सादि के विविध मतों का, (जो मन्त्रों की आनर्थक्यता को प्रतिपादित करते हैं,) वैदिक तथा लौकिक उदाहरणों द्वारा खण्डन करते हुये, मन्त्रोक्त पदों की अर्थवत्ता को प्रतिपादित किया है।

इस प्रकार इस प्रकरण में निरुक्त के प्रयोजनों का अध्ययन करते हुये, उसकी उपादेयता एवं अर्थमीमांसा का अध्ययन कराया गया है। क्योंकि बिना अर्थ के वैदिक मन्त्रों अथवा भाषा-व्यवहार निरर्थक ही है। इसके पश्चात् द्वितीय प्रयोजन के रूप में पदों का विभाग वर्णित किया गया है, जिसमें- नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपातों के वर्गीकरणों द्वारा समस्त पदों को अर्थविज्ञान हेतु विभाजित किया गया है। निरुक्त का तृतीय प्रयोजन, देवता-सम्बन्धी विज्ञान को स्पष्ट किया गया है, जिसके अन्तर्गत देवताओं के स्वरूप, उनकी संख्या, आकार तथा प्रधान देवताओं सहित अन्य अवान्तर देवताओं का वर्णन इत्यादि किया गया है। यज्ञीय विधानों के लिये यह सर्वथा अनिवार्य है कि जिस देवता को आहुति प्रदान की जाये, वह उनसे सम्बन्धित देवता के मन्त्रों द्वारा ही प्रदान की जाये, अतः देवता-विषयक ज्ञान महत्त्वपूर्ण है इस सन्दर्भ में प्रधान देवताओं का अभिज्ञान भी अत्यावश्यक होता है। चतुर्थ प्रयोजन के रूप में व्याकरण तथा निरुक्तशास्त्र का अन्तःसम्बन्ध बताया गया है, जिसमें व्याकरण तथा निरुक्त के प्रतिपाद्य विषयों के साथ-साथ विभिन्न स्थलों पर मतैक्य एवं भेदों को व्याख्यायित किया गया है।

ज्ञान की प्रशंसा तथा अज्ञान-निन्दा निरुक्त का अभिन्न प्रयोजन है। सभी शास्त्र मुक्तकण्ठ से ज्ञान की प्रशंसा करते हैं, उसी प्रकार निरुक्तकार भी उन ज्ञानी विद्वानों को जो अर्थमीमांसा सहित वाणी की उपासना करते हैं, उनको श्रेयस्कर सिद्ध करते हैं। अन्ततः आधुनिक भाषाविज्ञान के जनक के रूप में निरुक्तशास्त्र को सिद्ध किया गया है, इसमें भाषाविज्ञान के सभी मूलभूत प्रतिपाद्य विषयों को सूत्ररूप में विवेचित किया गया। भाषाविज्ञान सम्बन्धी निर्वचनशास्त्र की चर्चा अग्रिम इकाई में विस्तारपूर्वक की गई है।

4.4 शब्दावली

- निगम - निश्चय कराने वाले वचन अर्थात् वेद वचन।
- अपौरुषेय - जो पुरुष अर्थात् मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं हो अथवा उसकी शक्ति के बाहर हो, अमानुषिक एवं अलौकिक हो।
- कल्पशास्त्र - कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्। षड्वेदाङ्गों में उक्त श्रौत, गृह्य, धर्म, शुल्ब सूत्रों में निबद्ध शास्त्रोक्त विधि, नियम, यागादि अनुष्ठानों का क्रमबद्ध वर्णन है।
- व्युत्पत्तिशास्त्र - (वि+उत्+पद्+क्तिन्) विशेषेण उत्पत्तिः। विशेषेण उत्पत्तौ

शास्त्रजन्येशब्दार्थज्ञानादिसम्पाद्ये संस्कारभेदे - किसी शब्द की उत्पत्ति, क्रमिक इतिहास, स्वरूप और उसके अर्थ के आधार का अध्ययन व्युत्पत्तिशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। अंग्रेजी में व्युत्पत्तिशास्त्र को Etymology कहते हैं।

- अर्थवन्त - अर्थ से युक्त, अर्थवान्।
- स्थाणु - छिन्न शाखा का मूल (जड़) जिसे सामान्यतः ठूंठ भी व्याख्यायित किया जाता है।
- नैर्ऋति - मृत्यु (दुर्गाचार्य), आयुक्षयकारी पाप देवता (सायणाचार्य)।
- संहिता - परः सन्निकर्षः संहिता - वर्णों की अत्यधिक सन्निधि को ही संहिता कहा जाता है। वेदमन्त्रों की आनुपूर्वी सहित पाठ, संहिता पाठ है।
- ज्ञानविधूत - ज्ञान से पवित्र किया हुआ पापकर्म।
- प्रतिभा - नूतन नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्ज्ञान अथवा प्रेरणा, प्रतिभा के तात्पर्य हैं।
- अभिधा शक्ति - साक्षात् सांकेतित अर्थ (मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ) को प्रकट करने वाली शब्दशक्ति अभिधा शब्दशक्ति है।
- सुवासा - उत्तम वस्त्रों को धारण करने वाली स्त्री।
- वर्णसंघात - वर्ण की क्रमबद्ध सारणी, वर्णसमाम्नाय, वर्णसमूह।
- शब्दसंस्कार - प्रकृति-प्रत्ययादि विभागों द्वारा परिष्कृत व्युत्पन्न शब्द।
- पूर्वमीमांसा - भारतीय षड् दर्शनों में पूर्व-मीमांसा में वैदिक कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों तथा प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थों हेतु विधियों एवं नियमों का वर्णन है।
- आनुपूर्वी - जो पदार्थ जिस क्रम से स्थापित किया गया हो, उसका उसी क्रम में अनुसरण करना।

4.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1 - 1. घ, 2. ख, 3. ग, 4. क, 5. घ, 6. ग, 7. ख, 8. ख, 9. घ, 10. क।

अभ्यास प्रश्न 2 - 1. ख, 2. घ, 3. ख, 4. ग, 5. ख, 6. क, 7. घ, 8. ग, 9. ख, 10. ख।

4.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

- निरुक्त - यास्क : (सम्पादक) प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2001
- निरुक्त पञ्चाध्यायी : (व्याख्याकार) महामहोपाध्याय छज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1985
- निरुक्त – यास्क : टीकाद्वय-सहित (सम्पादक) लक्ष्मणसरूप, भाग I&II, दिल्ली, 1982
- निरुक्त के पाँच अध्याय : (सम्पादक एवं अनुवादक) पं० शिवनारायण शास्त्री,

इंडोलोजिकल बुक हाऊस, दिल्ली, 1972

- निरुक्तम् : (सम्पादक) डॉ. जमुना पाठक, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी।
- निरुक्तम् (निरुक्तविवृत्ति सहितम्) : (टीकाकार) मुकुन्द झा, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
- यास्कप्रणीतम् निरुक्तम् - डॉ. देवेन्द्रनाथ पाण्डेय, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 1999
- वैदिक साहित्य एवं संस्कृति - आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, वाराणसी, 1955
- Winternitz, Mourice : History of Indian Literature, Vol. 1, Pt. 1-2 (Translated into English by V. Srinivasa Sharma), M.L.B.D., Delhi, 1988.

4.7 बोध प्रश्न

1. निरुक्त द्वारा उक्त अर्थविज्ञान के महत्त्व की व्याख्या प्रस्तुत करें
2. पदों के चतुर्विभागों को प्रतिपादित कीजिये
3. पृथिवीस्थानिक तथा द्युस्थानिक देवताओं का वर्णन कीजिये
4. व्याकरणशास्त्र तथा निरुक्त के अन्तःसम्बन्ध को परिभाषित कीजिये
5. निरुक्त में उक्त ज्ञान की महत्ता को प्रकाशित कीजिये
6. भाषाशास्त्र के किन्हीं तीन उपाङ्गों की व्याख्या कीजिये

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

इकाई 5 भाषाविज्ञान के मूल सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 यास्क का धातुज सिद्धान्त
5.3 यास्क के निर्वचनपरक सिद्धान्त
5.4 निरुक्त तथा भाषाविज्ञान शास्त्र का अन्तःसम्बन्ध
5.5 सारांश
5.6 शब्दावली
5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ
5.9 बोध प्रश्न

5.0 उद्देश्य

निरुक्त शास्त्र से सम्बन्धित इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपको :

- वेदाङ्गों में वर्णित निरुक्तशास्त्र के भाषा-विज्ञान के मूल स्रोतों के विषय में परिज्ञान होगा।
- निरुक्तशास्त्र के अन्तर्गत आधुनिक भाषा विज्ञान के विकास का अभिज्ञान होगा।
- ध्वनिशास्त्र, रूपविज्ञान, वाक्य विन्यास की प्रकृति का अर्थावबोध होगा।
- निरुक्तशास्त्र की अर्थमीमांसा का परिज्ञान होगा।
- भाषा का विकास तथा इस शास्त्र के द्वारा इसकी प्रकृति, सादृश्यता का बोध होगा।
- वर्णविन्यास तथा वर्णों के स्वरुप एवं उनकी प्रकृति की अभिज्ञान होगा।
- वेदों में निहित मन्त्रों के अर्थों से सन्दर्भित निरुक्त विषयक ज्ञान से अभिरुचि जागृत होगी।
- वैदिक शास्त्रों में अन्तर्निहित ज्ञान की परम्परा का अभिज्ञान होगा।

5.1 प्रस्तावना

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म से निःसृत सनातन परम्परा में भावों के सम्प्रेषण हेतु भाषा की उत्पत्ति हुयी है। वाणी विविध प्रकार की होती है, कुछ रूपों में यह पशुओं द्वारा भी उच्चरित की जाती है, किन्तु विद्वज्जन दैवीय वाणी, उत्कृष्ट भाषा ही प्रयुक्त करते हैं। इस प्रकार की वाणी जो वक्ता को एवं श्रोता को परस्पर आह्लाद उत्पन्न करती है, साथ उनके लिये अन्न, रस एवं ऊर्जा दुहती है, हमें इसी प्रकार की वाणी का ही प्रयोग करना चाहिये - **देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति, सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु** (ऋग्वेद 10/8/11)॥ परमपिता ने अनादिनिधन एवं नित्य वाणी की सृष्टि के आरम्भ में सृजन किया तथा दिव्य वेदरुपी नित्य परावाणी का प्रकाशित किया, जिसके फलस्वरूप सभी मनुष्यों की

प्रवृत्तियाँ जागृत होती हैं - **अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा** (महाभारत शान्तिपर्व 232/24)। महाकवि दण्डी ने 'काव्यादर्श' में भाषा की महत्ता व्याख्यायित करते हुये वर्णन किया है कि यदि संसार में शब्द-स्वरूप ज्योति अर्थात् भाषा का प्रकाश न होता अथवा शब्द का प्रकाश ब्रह्माण्ड को प्रकाशित नहीं करता, तब यह सम्पूर्ण भुवन अन्धकारपूर्ण हो जाता - **इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते** (काव्यादर्श 1/4)।

प्रयोग भेद से भाषा के वैदिक तथा लौकिक भेद बहुधा स्वीकृत किये जाते हैं, किन्तु शबरस्वामी के भाष्य से यह स्पष्ट होता है कि लौकिक तथा वैदिक शब्द एक ही है तथा उनमें उनके अर्थ निहित होते हैं - **य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एव च तेषामर्थः** (शबरस्वामी भाष्य 1/3/30)। आचार्य यास्क भी इसे इस प्रकार व्याख्यायित करते हैं - **सा वै वाक्सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयम्.... तस्माद्ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्।**

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में भाषा के अध्ययन हेतु निरुक्त तथा व्याकरण इन दो वेदांगों का अध्ययन किया जाता है, जिनके अनुसार भाषा के विविध आयामों पर चिन्तन किया जाता रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य में आधुनिक काल में भी इन वेदांगों का भाषाशास्त्र के अध्ययन के रूप में प्रयोग किया जा रहा है साथ ही भाषाशास्त्र के विभिन्न नूतन विधाओं के चिन्तन हेतु भी इन वेदांगों का परिशीलन किया जाता है। इन वेदांगों में सूत्ररूप में भाषाशास्त्र की विधाओं के विभिन्न लक्षण तथा मूलस्रोत प्राप्त होते हैं। भाषा के मूलरूप का वैज्ञानिक विश्लेषण 'प्रातिशाख्य' एवं निरुक्त में वर्णित शब्दों की व्युत्पत्ति, धातु, उपसर्ग-प्रत्यय आदि विषयों पर अध्ययन करके प्राप्त किया जा सकता है। पाश्चात्य विज्ञान ने भी भाषा=सम्बन्धी विविध प्रयोगों द्वारा भाषाशास्त्र का विश्लेषण किया है, जो विविध नामों एवं संज्ञाओं से विकसित है। सर्वप्रथम भाषाशास्त्र के अध्ययन को फिलोलॉजी (Philology) नाम से परिभाषित किया गया जिसके पश्चात् 'कम्पैरेटिव फिलोलॉजी' (Comparative Philology) के रूप में इसका अध्ययन किया गया। फ्रांस में इसको लिंगुस्टिक (Linguistique) इस नाम से वर्णित किया गया। इसके अतिरिक्त 'साइंस ऑफ लैंग्वेज' (Science of Language) एवं 'ग्लौटोलेजी' (Glottology) आदि अन्य नाम भी प्रचलित थे। सामान्यतः भाषाशास्त्र को फिलोलॉजी (Philology) तथा लिंग्विस्टिक (Linguistique) रूप में ही प्रयोग किया जाता है।

सर्वप्रथम शब्द सम्बन्धी विज्ञान आचार्य यास्क के निरुक्त में प्राप्त करते हैं। निरुक्त जिसका व्याख्यान है निर्वचन, आचार्य यास्क एवं उनके पूर्ववर्ती सभी निर्वचनकारों की यह अवधारणा है कि सभी शब्दों की उत्पत्ति धातुओं (क्रियारूपों) से होती है। वहीं वैयाकरण समाम्नाय यह स्वीकृत करता है सत्ववाचक (द्रव्यवाचक) शब्दों (यथा - जल, पुस्तक आदि) की उत्पत्ति धातुओं से नहीं होती, वहीं भाववाचक (क्रियावाचक) शब्दों की उत्पत्ति धातुओं से सिद्ध है। महर्षि यास्क का निरुक्त, अर्थनिर्वचन की दिशा में एक वैज्ञानिक एवं तार्किक कार्य है। निरुक्त में यौगिक शब्दों का निर्वचन एवं व्याख्या उभयरूपों में वर्णित है अतः यह व्युत्पत्ति-विज्ञान (Etymology) के साथ अर्थविज्ञान (Semantics) का भी आकर शास्त्र है। यह दोनों परस्पर सम्बद्ध विधान हैं एवं परस्पर पूरक भी हैं। आधुनिक भाषाशास्त्र भाषा के विज्ञानात्मक परिशीलन हेतु भाषा को पृथक्-पृथक् विभागों के रूप में अध्ययन करता है। यथा - ध्वनिविज्ञान (Phonology), रूपविज्ञान (Morphology), अर्थविज्ञान (Semantics), वाक्यविज्ञान

(Syntax) तथा निर्वचनशास्त्र (Etymology) इत्यादि। भाषाशास्त्र की इन्हीं विधाओं का चिन्तन निरुक्तशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में इस इकाई में किया जा रहा है।

5.2 यास्क का धातुज सिद्धान्त

यास्काचार्य ने भाषा में प्रयुक्त होने वाले सभी नाम पद धातुज हैं इस सिद्धान्त का निरुक्त के प्रथम अध्याय में विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया है। यह भाषाशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे आचार्य शाकटायन के मत को उद्धृत करते हुये वर्णित करते हैं - **तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।** व्याकरणनिकाय में शाकटायनाचार्य तथा निरुक्तशास्त्र आचार्य परम्परा का मत है कि सभी शब्द धातु से निष्पन्न हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी - **नाम च धातुजमाह निरुक्ते, व्याकरणे शकटस्य च तोकम्** (उणादयो बहुलम् पा०सू०3/3/1)।

इसके विपरीत आचार्य गार्ग्य सभी नामों को धातुज स्वीकृत नहीं करते हैं। आचार्य गार्ग्य ने सभी नाम पदों को आख्यातज सिद्ध न करते हुये अपने मत प्रस्तुत किये हैं। जिसका यास्काचार्य ने यथानुरूप समाधान भी शाकटायनाचार्य का अनुसरण करते हुये व्याख्यायित किया है। इससे यह भी प्रतिपादित होता है कि महर्षि यास्क निरुक्तसम्प्रदायगत नामान्याख्यातजानि पक्ष के अनुयायी होते हुये सभी शब्दों को धातुज स्वीकृत करते हैं। आचार्य गार्ग्य के मतों का उपस्थापित करते हुये उनका यास्काचार्य द्वारा समाधान इस प्रकार प्रस्तुत है –

- आचार्य गार्ग्य इसे परिभाषित करते हुए वर्णन करते हैं कि सभी शब्दों में मात्र वे शब्द ही धातुज हैं, जो स्वर तथा संस्कार अर्थात् प्रकृति तथा प्रत्यय के संयोग से निर्मित हो (व्युत्पन्न) हों तथा प्रादेशिक गुण से युक्त हों, वे आख्यातज हैं, इसके विपरीत गौः, अश्वः, पुरुषः इत्यादि शब्द रूढ़ि हैं **- न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके तद् यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्याताम्। संविज्ञातानि तानि यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति।** वस्तुतः नामों की व्यवस्था तीन प्रकार की होती हैं - प्रत्यक्ष क्रिया, प्रकल्प्य क्रिया, अविद्यमान क्रिया। प्रत्यक्ष जहाँ क्रिया प्रत्यक्षरूपेण दृष्टिगोचर होती है - कारक, कर्ता इत्यादि, यहाँ कृ धातु का प्रयोग प्रत्यक्ष है। द्वितीय विभाग प्रकल्प्य क्रिया वह होती है, जहाँ सादृश्य के आधार पर प्रकृति-प्रत्यय की परिकल्पना की जाती है - गोः, अश्वः इत्यादि। इसी प्रकार अविद्यमान क्रिया वह होती हैं जहाँ प्रकृति-प्रत्यय सम्भव नहीं हो सकता है यथा - डित्थ, डवित्थ इत्यादि। यहाँ गार्ग्याचार्य का के द्वारा प्रादेशिक गुण से तात्पर्य प्रकल्प्य क्रियापदों द्वारा परिकल्पित नाम पदों से है।

  आचार्य गार्ग्य अग्रिम वर्णित करते हैं कि यदि सभी नाम, आख्यात से उत्पन्न होते हैं उस परिस्थिति में जो भी वह कार्य करते हैं उसी के अनुरूप वह नाम चरितार्थ हो जाता, यथा जो कोई भी अध्व (मार्ग) का अशन (पूर्ण) करता है उसकी संज्ञा 'अश् व्याप्तौ' धातु से 'व प्रत्यय' संयोजित करके 'अश्व' हो जाती तथा जिस किसी का भी उच्छेद किया जाता उसे 'तुदि तर्दने' धातु से निष्पन्न पद 'तृण' कहा जा सकता है - **अथ चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यः कश्च तत्कर्मकुर्यात् सर्वं तत्सत्त्वं तथा आचक्षीरन्। यः कश्च अध्वानमश्नुवीत, अश्वः स वचनीयः स्यात्। यत् किञ्चित् तृन्द्यात् तृणं तत्।** पुनश्च यदि यदि सभी नाम धातुज से उत्पन्न होते हैं तब जिन-जिन

क्रियाओं से वह वस्तु सम्बद्ध होती उन-उन क्रियाओं के आधार पर उसका नामकरण भी फलीभूत होता, यथा - स्थूणा को दर-शया (छेद में सोनेवाली), अथवा आसञ्जनी का नामोच्चारण किया जाता - **अथापि चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यावद्भिर्भावैः सम्प्रयुज्येत तावद्धयः नामधेयप्रतिलम्भः स्यात्। तत्र एवं स्थूणा दरशया च आसञ्जनी च स्यात्।**

इसका समाधान के रूप में यास्क भी इसी प्रकार वर्णित करते हैं कि जहाँ शब्द में स्वर तथा संस्कार में समर्थ हो तथा अर्थभूत वस्तु के विद्यमान क्रिया के वाचक धातु से अन्वित हो अर्थात् शब्द धातुज हो इस सिद्धान्त पर यास्क ने कोई आक्षेप नहीं किया है - **यथो हि नु वा एतत् तद् यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां सर्वं प्रादेशिकमित्येवं सत्यनुपालम्भ एष भवति।**

यास्क अग्रिम मत का समाधान करते हुये व्याख्यायित करते हैं एक प्रकार के कार्य के सम्पादन कर्ताओं में से कतिपय नाम ही उस आधार पर निर्धारित किये जाते हैं, सभी कर्ताओं के नाम वही नहीं होते हैं यथा काटने वाले पद के रूप में प्रयुक्त 'तक्षा' शब्द का प्रयोग मात्र काष्ठशिल्पी के लिये ही होता है, अन्य प्रकार के कर्तनकर्ताओं के लिये नहीं। इसी प्रकार तक्षा शब्द के समान ही परिव्राजक तथा भूमिज इत्यादि पदों का प्रयोग उन क्रियाओं से युक्त सभी कर्ताओं के लिये नहीं अपितु विशेषकार्य सम्बद्ध व्यक्तियों के लिये ही होता है। इस प्रकार इनके समानार्थी शब्द धातुज होते हुये भी लक्षित वस्तु अथवा व्यक्ति हेतु प्रयुक्त किये जाते हैं। वस्तुतः इसका निर्धारण शास्त्र के द्वारा नहीं अपितु प्रयोगधर्मी लोक के द्वारा निर्भर होता है, जिसके द्वारा अर्थ विशेष में उस शब्द को रूढ़ कर दिया जाता है - **यथो एतद्, यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्त्वं तथा आचक्षीरन्निति, पश्यामः समानकर्मणां नामधेय प्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम्। यथा - तक्षा परिव्राजको जीवनो भूमिज इति।**

- इसी प्रकार गार्ग्य वर्णित करते हैं कि इन नामों को व्याकरणगत नियमों के आधार पर समानार्थक क्रियाओं द्वारा सिद्ध करते हुये तथा कर्म के आधार पर साध्य प्रकृति-प्रत्यय का विभाग के द्वारा जिस रूप में यह नाम स्पष्ट रूप से स्वयं अर्थों को स्फुटित करें उनका प्रयोग ही करणीय है। यथा - पुरुष को पुरिशय अर्थात् पुर् + शी में शयन करनेवाला पुरिशय का भी यही अर्थ होता, अश्व एवं अष्टा दोनों का निर्माण अश् धातु से हुआ है इसी प्रकार तर्दन एवं तृण - तृंद् धातु से हुआ है - **अथापि य एषां न्यायवान्कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतानि स्युः तथा एनानि आचक्षीरन्। पुरुषं पुरिशयः इति आचक्षीरन्। अष्टा इति अश्वम्। तर्दनमिति तृणम्।**

आचार्य यास्क इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि वस्तुतः शब्द स्वयं जिस रूप में स्पष्ट अर्थ से युक्त हों उनका तदनुरूप प्रयोग किया जाना चाहिये, इसके समाधान पक्ष हेतु आचार्य यास्क के वर्णित करते हैं कि ऐसे कृदन्तादि शब्द जिनमें प्रकृति-प्रत्यय विभागादि नियमों की अनुकूलता के साथ-साथ जिनके सहज अर्थ प्राप्त होते हैं, वे अल्पप्रयुक्त होते हैं - यथा – जाट्य, जागरूक, इत्यादि। इनका कतिपय परिगणन यास्काचार्य ने ऐकपदिक-काण्ड में किया भी है। इसके विपरीत अस्पष्ट अर्थों में शब्दों का अत्यधिक प्रयोग प्राप्त होता है, अतः उनकी भी शास्त्रानुरूप स्पष्टरूपेण अर्थयुक्त प्रतीति हेतु उनके प्रकृति-प्रत्ययादि के विषय में विचार अवश्य करणीय है - **यथो एतत् यथा चापि प्रतीतार्थानि**

स्युस्तथा एनानि आचक्षीरन्निति, सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽपि ऐकपदिकाः। यथा - व्रततिर्दमूना जाट्य आटणारो जागरूको दर्विहोमीति।

- इसी क्रम में जब पृथिवी आदि शब्दों के प्रयोग के अर्थविचार के प्रसंग में यह विचार किया जाता है कि 'प्रथ धातु' अर्थात् फैली होने के कारण इसको पृथिवी कहते हैं, किन्तु इसका उत्तर कि पृथिवी को कब तथा किसने कहाँ से फैलाया यह प्राप्त नहीं होता है, तब आख्यात से निष्पन्न इस प्रकार की अर्थपरक विसंगति उत्पन्न होती है - **अथापि निष्पन्नेऽभिव्यवहारेऽभिविचारयन्ति प्रथनात् पृथिवीत्याहुः।**

  इसका खण्डन करते हुये यास्क वर्णित करते हैं कि व्यवहार में प्रयुक्त होने पश्चात् ही उस शब्द के मूल अर्थ का द्योतन होता है, जिससे प्रकृति-प्रत्ययादि के सम्बन्ध के द्वारा ही परीक्षण करके योगपरीष्टि अर्थात् उनके शब्द निर्माण पर विचार करते हुये अर्थपरक निर्धारण प्रस्तुत किया जाता है। विस्तारयुक्त होने के आधार पर पृथिवी को 'पृथिवी' पद से व्यवहार में प्रयोग किया जाता है। यह किसी के द्वारा फैलायी न होने पर भी विस्तारूप में ही प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है, अतः ऐसे सभी दृष्टापवाद अनुभव अथवा प्रत्यक्ष प्रमाणों के द्वारा खण्डित किये जाते हैं - **निष्पन्ने अभिव्याहारे अभिविचारयन्तीति, भवति हि निष्पन्ने अभिव्याहारे योगपरीष्टिः। प्रथनात्पृथिवीत्याहुः, क एनाम् अप्रथयिष्यत् किमाधारश्चेति। अथ वै दर्शनेन पृथुः, अप्रथिता चेदप्यन्यैः। अथाप्येवं सर्वं एव दृष्टापवादा उपालभ्यन्ते।**

- धातुज सिद्धान्त के अनुयायी आचार्य शाकटायन किसी शब्द के प्रकृति-प्रत्यय विभाग में स्वर तथा संस्कार से अन्वित न होने की स्थिति में क्रिया की वाचक एक धातु में अर्थ विसंगति होने पर, शब्द को खण्डित करके उनके विभिन्न खण्डों के द्वारा उनमें धातु की परिकल्पना करते हैं। यथा 'सत्य' इस पद में मूल धातु की परिकल्पना प्राप्त न होने पर इसे 'इ धातु' के प्रेरणार्थक णिजन्त रूप में निष्पन्न यकार रूप को अन्त में स्थापित किया तथा 'अस् धातु' के सकारादि रूप को आदि में स्थापित करते हुए इस शब्द की निष्पत्ति करते हैं - **अथ अनन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्द्धान् सञ्चस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्ते शुद्धं च सकारादिं च।**

  आचार्य शाकटायन की परम्परा में जिस प्रकार शब्दों को विभागों द्वारा भिन्न-भिन्न धातुओं से सिद्ध किया है इसके निराकरण को आचार्य यास्क इस प्रकार वर्णित करते हैं कि इसमें निर्वचन के व्युत्पत्तिकर्ता की निन्दा है। सभी पदों के निर्वचनशास्त्र अथवा आख्यातज सिद्धान्त की निन्दा नहीं है - **यथो एतत्, पदेभ्यः पदेतरार्धान् सञ्चस्कारेति, योऽनन्वितेऽर्थे सञ्चस्कार स तेन गर्दाः, सैषा पुरुषगर्द न शास्त्रगर्दा इति।**

- गार्ग्य वर्णित करते हैं कि शब्दों के उत्पत्ति आख्यातों से स्वीकृत करने में यह भी दोष है कि **'सत्त्वपूर्वो भावः'** अर्थात् सर्वप्रथम वस्तु अथवा प्राणी की सत्ता उपस्थित होती है, उसके तत्पश्चात् उसके द्वारा क्रिया होती है। अतः पश्चात् क्रियमाण क्रिया के आधार पर पूर्व से ही विद्यमान वस्तु अथवा प्राणी का नाम किस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता - **अथापि सत्त्वपूर्वो भावः इति आहुः। अपरस्मात् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते इति। तत् एतत् नोपपद्यते।**

इसका खण्डन करते हुये यास्क वर्णित करते हैं कि कतिपय वस्तुओं अथवा प्राणियों का नामकरण पश्चात् सम्पादित क्रियाओं के आधार पर किया जाता है परन्तु सभी के विषय में ऐसा प्रचलन प्राप्त नहीं होता है। यथानुरूप कदाचित् भूतकालिक क्रिया के आधार पर यथा - अग्निष्टोम इत्यादि नामकरण होता है इसी प्रकार किसी किसी स्थल पर वर्तमानकालिक क्रिया अथवा भविष्यकालिक क्रियाओं के आधार पर भी नामकरण किया जाता है - यथा - बिल्वादः बेल का फल खानेवाला एक पक्षी अथवा लम्बचूड़क पक्षी की दीर्घ चोटी जन्म के बहुत काल के पश्चात् दीर्घ होती है फिर भी इसे लम्बचूड़क कहते हैं, इत्यादि - **अपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति, पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपरस्माद् भावान्नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषां यथा बिल्वादो लम्बचूडक इति।**

वस्तुतः गार्ग्य तथा शाकटायन के सिद्धान्तों को समन्वित करते हुये आचार्य यास्क ने शब्दों को आख्यातज सिद्ध करने का अत्यन्त उपकारी कार्य किया है, जिससे इस सिद्धान्त के सभी उपांगों का पूर्ण विश्लेषण प्राप्त होता है, क्योंकि आचार्य गार्ग्य के अनुसार मूलतः प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग की सहज प्रतीति होने नहीं हो सकती तथा यह भी उचित है कि सभी शब्दों को धातुज नहीं कहा जा सकता क्योंकि किसी पद की निष्पत्ति में बहुविध कारण एवं तत्त्व कार्यान्वित होते हैं, इस पर यास्क आचार्य यह भी अनुमानित करते हैं कि मूलतः वे पद आख्यातजन्य हों परन्तु पश्चात् प्रयोगरूप् में कदाचित् परिवर्तन हो। अतः उन्हें अधातुज कहना श्रेयस्कर नहीं है। ऐसे विभिन्न पदों का परिगणन आचार्य पाणिनि ने उणादिपाठ में किया है, साथ ही यह व्याख्यायित करते हैं कि उणादिनिष्पन्न प्रातिपदिक (नाम) व्युत्पन्न अर्थात् धातुज होते हैं - **उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि।** इसी का अनुसरण करते हुये कात्यायन तथा पतञ्जलि भी इसी रूप में **प्रातिपदिकविज्ञानाच्च पाणिनेः सिद्धम्** उक्ति का वर्णन करते हैं।

अभ्यास प्रश्न - 1

1. देवास्तां विश्वरूपाः पशवो .... यह मन्त्र ऋग्वेद के किस मण्डल से उद्धृत है?
   - क. नवम
   - ख. प्रथम
   - ग. अष्टम
   - घ. दशम
2. महाकवि दण्डी रचित ग्रन्थ का नाम क्या है ?
   - क. काव्यप्रकाश
   - ख. काव्यमीमांसा
   - ग. काव्यादर्श।
   - घ. ध्वन्यालोक।
3. सा वै वाक्सृष्टा ---- व्यभवत्। इस पंक्ति को पूर्ण करें ?
   - क. त्रिधा
   - ख. चतुर्धा

ग. द्विधा

घ. पञ्चधा

4. रूपविज्ञान को पाश्चात्य भाषाविज्ञान में किस नाम से वर्णित किया जाता है?

क. Phonology

ख. Semantics

ग. Morphology

घ. Syntax

5. 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते' यह किस आचार्य का कथन है?

क. आचार्य वररुचि

ख. आचार्य पतञ्जलि

ग. आचार्य पाणिनि

घ. आचार्य भर्तृहरि

6. किस आचार्य के मतानुसार सभी नाम धातुज स्वीकृत नहीं हैं?

क. शाकटायनाचार्य

ख. औदुम्बरायणाचार्य

ग. गार्ग्याचार्य

घ. गौतमाचार्य

7. तक्षा शब्द का प्रयोग किस अर्थ में होता है ?

क. तीक्ष्णकर्ता

ख. काष्ठशिल्पी

ग. कर्तनकर्ता

घ. रक्षणकर्ता

8. तृण शब्द किस धातु से निर्मित है ?

क. तृण् धातु

ख. तृन् धातु

ग. तृंद् धातु

घ. तृंह् धातु

9. पुरुषं ..... इति आचक्षीरन् इस पंक्ति को पूर्ण करें?

क. प्रतीतानि

ख. एनानि

ग. अष्टा

घ. पुरिशयः

10. सत्य शब्द की व्युत्पत्ति किस धातु से होती है ?

क. सत् धातु

ख. अय् धातु

ग. इ धातु

घ. साध् धातु

5.3 यास्क के निर्वचनपरक सिद्धान्त

आचार्य यास्क ने द्वितीयाध्याय के प्रारम्भ में विभिन्न निर्वचन सिद्धान्तों का संक्षेप में उल्लेख किया है, जो वस्तुतः सम्पूर्ण भाषाविज्ञान के साररूप में वर्णित हैं इनमें निर्वचनपरक विभिन्न प्रविधियों का उल्लेख है जो आगे सम्वर्धित होते हुये - ध्वनिविज्ञान, रूप विज्ञान, अर्थमीमांसा तथा व्युत्पत्तिशास्त्र के रूप में पृथक्-पृथक् पल्लवित होती गयी। अतः इन सिद्धान्तों का भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्व है, जिनके अध्ययन से शब्द सम्बन्धी निर्वचन के विभिन्न रूपों को वर्णित किया है -

- **तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निब्रूयात् -** निरुक्तकार यास्क सर्वप्रथम निर्वचन के सिद्धान्त को व्याख्यायित करते हुये व्याकरणशास्त्र की महिमा को सिद्ध करते हुये वर्णित करते हैं - निर्वचन कार्य में यथाकाल ऐसे पद समुपस्थित हों, जिनमें स्वर तथा धातु एवं प्रत्यय, लोप अथवा आगम इत्यादि व्याकरणशास्त्र की प्रक्रिया से स्वयं सिद्ध हो रहे हों, उस स्थिति में वे सभी पद, व्याकरणगत प्रक्रिया के द्वारा निर्वचनीय अपेक्षित हैं। वस्तुतः जिन पदों में प्रकृति तथा प्रत्यय के विभाग स्पष्टरूपेण प्रदर्शित हैं तथा व्याकरणगत नियमों से अर्थप्राप्ति यथासम्भव हो तब व्याकरण की प्रक्रियानुसार ही ऐसे पदों के निर्वचन करना चाहिये।

- **अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थ नित्यः परीक्षेत केनचिद्वृत्तिसामान्येन -** इसके पश्चात् आचार्य यास्क उन पदों के निर्वचन की विधि इस सिद्धान्त के रूप में व्याख्यायित करते हैं, जिनमें अर्थ की अन्विति न हो रही हो तथा व्याकरणगत नियमों से निर्वचन करना सम्भव नहीं हो सकता है। इन पदों के अर्थ-निर्वचन हेतु, अर्थ को प्रधानरूपेण स्वीकृत करके उसे किसी भी क्रिया से समानता के आधार पर सर्वप्रथम धातु कल्पित करके निर्वचन करना अभीष्ट है। इसका प्रयोजन यह है कि आचार्य यास्क शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य रूप में स्वीकृत करते हैं अर्थात् कोई भी प्रयुक्त शब्द अर्थ से रहित नहीं है, शब्द का अर्थ स्पष्टतः निदर्शित हो अथवा गूढ़ हो उसमें अर्थ का अस्तित्व अवश्य होता है। इसी तथ्य को महाभाष्यकार भी **सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे, लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः** में व्याख्यायित करते हैं।

  निरुक्तकार ने इस सिद्धान्त के द्वारा कल्पित क्रिया के आधार पर विविध निर्वचनों को व्याख्यायित किया है - पृथिवी इस पद के निर्वचन हेतु प्रथनात् पृथिवी अर्थात् पृथिवी के

फैले होने अथवा विस्तृत अवस्था को आधाररूपेण स्वीकृत करते हुये प्रथ् धातु से अर्थ साम्यतापरक धातु से उसका निर्वचन किया है।

- **अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्नि - ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति -** इसके पश्चात् आचार्य यास्क अग्रिम सिद्धान्त का प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं - वे पद जिनमें निर्वचनकाल में अर्थ की समानता की साक्षात् प्रतीति नहीं हो रही हैं, उस स्थिति में भी निर्वचन करणीय है एवं इसके लिये किसी समानाक्षर वर्ण, अर्थात् अकारादि स्वर अथवा ककारादि व्यञ्जन की समानता से निर्वचन करना चाहिये। इन पदों में संस्कार अर्थात् व्याकरणगत नियमों का आदर नहीं करें क्योंकि इससे शब्दों की वृत्तियाँ अर्थ-प्रक्रिया में संशयपूर्ण होती है।

  यह विदित है कि यथाकाल पाणिनि आचार्य भी निखिल शब्दराशि की व्युत्पत्ति प्रक्रिया में उणादिपाठ का उल्लेख करते हैं। जिनमें साक्षात् प्रकृति-प्रत्यय का विभाग प्रतीत नहीं होता है, इस प्रकार के अनेक ऐसे शब्द जो देशज अथवा रूढ़ि पद हैं, उन्हें इस उणादिगणपाठ में परिगणित करते हुये व्युत्पन्न करते हैं - **उणादयो बहुलम्** (पा०सू० 3.3.1)।

- **यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत** - इस नियमानुसार आचार्य यास्क यह प्रतिपादित करते हैं कि निर्वचनकाल में अर्थ के अनुसार विभक्तियों को परिवर्तित करना चाहिये अर्थात् मन्त्रार्थों की अर्थपरक व्याख्या हेतु उचित अर्थानुरूप विभक्ति तथा वचनों का व्यत्यय करना चाहिये। आचार्य पाणिनि ने भी इस हेतु अष्टाध्यायी में व्यत्ययो बहुलम् (पा०सू० 3/1/85) इस सूत्र का व्याख्यान करते हुये बहुशः वैदिक प्रयोगों की व्याकरणगत व्युत्पत्ति प्रदान करते हैं।

- **तद्यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातु भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्। तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति। तद्यथौतत् - ऊतिः मृदुः पृथुः पृषतः कुणारुमिति -** इसी प्रकार सम्प्रसारण यह भी विषय भी यहाँ प्रासंगिक है जिसके आधार पर निर्वचन किया जाता है। इसे इस प्रकार समझा जाये कि यदि अन्तःस्थ अर्थात् य, र, ल, व में से कोई वर्ण धातु में उपस्थित हो तथा वह अजादि (स्वर) से अव्यवहित होना चाहिये उस परिस्थिति में अन्तःस्थों को इनके सम्प्रसारण रूप अर्थात् इ, उ, ऋ, लृ इन रूपों में भी परिवर्तित करते हुये द्विरूपात्मक निर्वचन भी किया जाता है -असम्प्रसारण रूपनिर्वचन तथा सम्प्रसारण रूपनिर्वचन। यथा - यज् धातु का सम्प्रसारण रूपनिर्वचन इज्, वप् का सम्प्रसारण रूपनिर्वचन उप्, ग्रह का सम्प्रसारण रूपनिर्वचन गृह् स्वीकृत किया जा सकता है जिससे अग्रिम रूप निर्माण करते हुये इष्टः, उप्त्वा इत्यादि रूपसिद्धि करते हुये निर्वचन किया जा सकता है। इसी प्रकार इनके असम्प्रसारण रूपनिर्वचन में यष्ट्वा, यष्टुम् इत्यादि रूपसिद्धि करते हुये निर्वचन किया जा सकता है। उदाहरणार्थ - ऊतिः -अव रक्षणे -अव् + क्तिन् = अ + ऊठ् + ति = ऊतिः। मृदु - म्रद् मर्दने - म्रद् + कु = म् + ऋ + उ = मृदुः। इसी प्रकार, पृथुः - प्रथ प्रख्याने। पृषतः - प्रुषु सेचने। कुणारुम् - क्वण शब्दे के निर्वचन ज्ञेय हैं।

- **अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते । दमूनाः । क्षेत्रसाधा इति । अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः । उष्णम् । घृतमिति -** लौकिक भाषा में प्रयुक्त धातुओं से

वैदिक कृदन्त प्रयोग भी शब्दों के निर्वचन में प्राप्त होते हैं। यथा - दमूनस्, क्षेत्रसाधस् इत्यादि एवं वैदिक शब्दों से उद्भूत धातुओं से उष्ण, घृत इत्यादि लौकिक कृदन्त शब्दों का निर्वचन किया जाता है। दम् उपशमे धातु से लौकिक प्रयोगों में दाम्यति, दमयति इत्यादि प्रयोग प्राप्त होते हैं, इसी धातु से उणादि प्रत्यय ऊनसि करने पर वैदिक शब्द दमूनस् सिद्ध होता है जिसका अर्थ है दान्तः । इसी प्रकार क्षेत्रे **साधयतीति क्षेत्रसाधाः** में असुन् उणादि प्रत्यय, साध धातु से संयोजित कर अर्थ निष्पत्ति की जाती है। धातुयें क्रिया तथा नाम इन पृथक्-पृथक् रूपों में भी प्रसिद्ध होती हैं अतः निर्वचनकाल में इनका निर्धारण भी आवश्यक है जिससे उचित अर्थतत्त्व की प्राप्ति हो सके।

- आचार्य निर्वचन काल में यह भी व्याख्यायित करते हैं कि यथाकाल स्थान परिर्वतनानुसार कतिपय देशों में अथवा कतिपय स्थानों में धातु का प्रकृतिरूप अर्थात् आख्यात पदरूप में व्यवहार होता है तथा कतिपय स्थानों में विकृतिरूपों अर्थात् नामपद रूपों का प्रचलन है। उदाहरणार्थ - कम्बोज देश में गत्यर्थक धातु शव प्रकृतिरूप अर्थात् आख्यात पदरूप में व्यवहृत होती है, किन्तु आर्यावर्त में इसका विकृतरूप अर्थात् नामपद रूप शव (मृत देह) इस रूप में व्यवहार होता है। इसी प्रकार - **दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।**

निष्कर्षतः निरुक्तकार के इन सिद्धान्तों को काशिकाकार भी **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (पा०सू० 6/3/108) की वृत्ति में वर्णित करते हैं कि निर्वचन पाँच प्रकार के होते हैं - वर्ण का आगम, वर्ण का विपर्यय, वर्ण विकार, वर्ण नाश तथा अर्थ के अनुसार धातु के रूप की कल्पना। वर्णों की समानता के आधार पर निर्वचन करने पर, इन पाँच में से एक उपांग की उपस्थिति अनिवार्यरूपेण निर्धारित होती है - **वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ, धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।**

इसे इस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है - **वर्णागम** में जहाँ शब्द के निर्वचनकाल में यदि किसी अन्य वर्ण की आवश्यकता हो उस परिस्थिति में उसे स्वीकृत करते हुये निर्वचन कार्य किया जाये यद्यपि वह मूलधातु में उस वर्ण की उपस्थिति न हो । **वर्णविपर्यय** में शब्द के निर्वचन में वर्णों के स्थान परिवर्तित करते हुये आवश्यकतानुसार निर्ववन करना चाहिये। **वर्णविकार** में मूल शब्दों में स्वर तथा व्यञ्जनों को परिवर्तित करते हुये निर्वचन किया जाता है। **वर्णनाश** के द्वारा मूलधातु में किसी वर्ण का लोप करके इच्छित पद की रूपसिद्धि की जाती है। **धातु के अर्थ को सम्वर्धित करते हुये** धातु के उससे भिन्न अर्थ के साथ संयोजित करते हुये निर्वचन सिद्धि की जाती है। शब्दों के निर्वचन व्यापकरूप में समझने हेतु निम्न विधानों को सोदाहरण समझा जा सकता है -

- धातु के आदि का लोप करके, यथा - अस् धातु से अकार लोप करके सन्ति शब्द का निर्वचन किया जाता है।

- धातु के अन्त का लोप करके, यथा - गम् धातु में मकार का लोप करके गतम्, गत्वा आदि शब्दों का निर्वचन किया जाता है।

- धातु की उपधा का लोप करके, यथा - गम् धातु की उपधा में स्थित अकार का लोप करके जग्मुः इत्यादि शब्दों का निर्वचन किया जाता है।

- धातु की उपधा में उपधाविकार करते हुये उसको परिवर्तित करके, यथा - राजन् शब्द की उपधा में स्थित अकार का दीर्घ करके राजा इस शब्द का निर्वचन किया जाता है।
- किसी पद में ध्वनि (वर्ण) का लोप करके, यथा - चतुरीय शब्द में चकार का लोप करके तुरीय शब्द तथा आत्मन् शब्द में आकार का लोप करके त्मन् इत्यादि शब्दों का निर्वचन किया जाता है।
- पद में उपस्थित दो वर्णों का लोप करके, यथा - त्रि + ऋच् इस स्थिति इकार तथा रकार का लोप करके इस शब्द का निर्वचन किया जाता है।
- पद में उपस्थित आदिवर्ण का विपर्यय करके, यथा - हन् धातु में हकार को घकार करके घ्नन्ति शब्द का निर्वचन किया जाता है।
- प्रथम तथा अन्त वर्ण में आद्यन्तविपर्यय करते हुये उनका व्युत्क्रम करके, यथा - कर्तुम् पद से तर्कुम् शब्द का निर्वचन किया जाता है।
- अन्त में अन्तविपर्यय करते हुये नवीन वर्ण आगमन करके, यथा - मेहः शब्द में हकार के स्थान पर घकार करके मेघः, गाहः में धकार परिवर्तित करके गाधः इत्यादि शब्दों का निर्वचन किया जाता है।
- पद में नूतन वर्ण का मध्य में आगमन करके, यथा - असु क्षेपणे में थकार का आगम करके आस्थत् शब्द का निर्वचन किया जाता है।

5.4 निरुक्त तथा भाषाविज्ञान का अन्तःसम्बन्ध

भाषायाः वैज्ञानिकं चिन्तनम् - भाषाविज्ञानम् अर्थात् भाषाशास्त्र में किसी भाषा का विवेचनात्मक अध्ययन, उसका विश्लेषण, उनकी उत्पत्ति एवं विकास तथा उस भाषा की किसी अन्य भाषा से परस्पर तुलना आदि मूलतः भाषाविज्ञान के अन्तर्गत पठित विषय होते हैं। तात्पर्य यह कि यह भाषा के सर्वांगीण अध्ययन को विस्तृतरूपेण प्रकाशित करता है। वस्तुतः भाषा की लघुतम इकाई ध्वनि है, जिसका सर्वप्रथम उच्चारण होता है। विभिन्न ध्वनियाँ संयुक्त होकर पद निर्माण करती हैं, इन विविध पदों से वाक्य की संरचना होती है तथा वाक्य से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। यह क्रम निरन्तर गतिमान है।

इस प्रकार भाषाशास्त्र के विज्ञान का अन्तः सम्बन्ध किस प्रकार निरुक्त से अन्तःसम्बद्ध है यह भी अत्यन्त रोचक विषय है अतः इस अवधारणा के परिज्ञान हेतु सर्वप्रथम हमें भाषाविज्ञान तथा निरुक्त के साथ उसकी सम्बद्धता का ज्ञान आवश्यक है। व्यापक रूप में भाषा के इस अध्ययन को चार प्रमुख क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है -

- **ध्वनिविज्ञान** (Phonology) - इस विज्ञान के अन्तर्गत भाषा के मूलतत्त्व ध्वनि (वर्ण) का व्यापक अध्ययन किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से ध्वनियों के प्रकार, वर्गीकरण, इनका सम्प्रेषण, संयुक्त वर्णों का वर्णन तथा संयोग द्वारा विविध परिवर्तन, ध्वनियों के विविध उच्चारण स्थान इत्यादि विषयों का समन्वित किये जाते हैं।

  मूलतः यह विषय छन्दशास्त्र के अन्तर्गत आता है पुनश्च आचार्य यास्क ने उपर्युक्त

सम्प्रसारणादि प्रसंगों में विविध उदाहरणों द्वारा ध्वनिशास्त्र से सम्बन्धित उदाहरणों द्वारा इसका विवेचन निरुक्तशास्त्र में सन्दर्भित किया है। ध्वनिविज्ञान के सिद्धान्त के अन्तर्गत आचार्य यास्क ने उपर्युक्त वर्णनों के आधार पर वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश इत्यादि विधानों द्वारा ध्वनिशास्त्र पर विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया है। वस्तुतः ध्वन्यात्मक आधारभूत क्रियायें ही निर्वचन का अत्यन्त प्राथमिक आधार होती हैं। निर्वचन के इन पञ्च प्रकारों को यदि सूक्ष्मता से विवेचित किया जाये तब यह ध्वन्यात्मक विज्ञान पर ही आधारित हैं तथा ध्वनिपरिवर्तन की विभिन्न अवस्थाओं को विवेचित भी करते हैं।

- **पदविज्ञान** (Morphology) - विविध ध्वनियों/वर्णों से समन्वित होकर एक शब्द निर्मित होता है। जो पूर्ण प्रयोग हेतु उपयुक्त होता है जिसे पद की संज्ञा दी जाती है। इन पदों के विज्ञान का पद-विज्ञान के रूप में व्याख्यायित किया जाता है, इसके अतिरिक्त इसे रूपविज्ञान, रूपविचार अथवा पदविचार भी वर्णित किया जा सकता है। इस विज्ञान के अन्तर्गत पद का स्वरूप,पद के अवयव, पदों का विभाजन उनके लिंग, विभक्ति, वचन, पुरुष, काल, प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग आदि विभिन्न तत्त्व इत्यादि विषयों का पद-विज्ञान में विवेचन किया जाता है।

  आचार्य यास्क सूक्ष्मतः पदविज्ञान को व्याख्यायित करते हैं, पदविज्ञान के अन्तर्गत विभाजित चतुर्विभाग - नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात यह मूलतः पदों की प्रकृति को निर्दिष्ट करते हैं तथा पदों का धातुज सिद्धान्त किसी पद की मूलनिष्पत्ति को भी द्योतित करता है, निःसन्देह निरुक्त पदविज्ञान को व्याख्यायित करने के लिये वृहद् एवं सिद्धान्तों का आकर ग्रन्थ है जिससे इस पदविज्ञान की शाखा में विस्तार हो सका है।

- **वाक्यविज्ञान** (Syntax) - जिस प्रकार विभिन्न वर्णों से संयुक्त होकर पदनिर्माण होता है, उसी प्रकार विभिन्न पदों के समन्वय से वाक्य निर्माण होता है। वाक्यविज्ञान को वाक्यविचार, वाक्यशास्त्र, वाक्यरचना शास्त्र इत्यादि नामों से भी वर्णित किया जाता है। वाक्य-विज्ञान के अन्तर्घटकों में वाक्य की रचना के प्रकार, तन्निहित पदों की अन्विति, उनमें प्रयुक्त कर्ता, क्रिया, कर्म इत्यादि का परिचय तथा उनके स्थान का निर्धारण, वाक्य भेद इत्यादि विभिन्न विषयों पर चिन्तन किया जाता है।

  आचार्य यास्क ने पदों के निर्धारण के पश्चात् निःसन्देह वैदिक ऋचाओं की अर्थनिष्पत्ति हेतु संरचनात्मक वाक्यरचना की प्रासंगिकता का वर्णन भी किया है, किसी ऋचा में वर्णित देवताओं के अभिधानों की प्रतीति तथा किस ऋचा में देवता का वर्णन द्योतित है यह उस सम्पूर्ण ऋचा के अर्थज्ञान के विना सम्भव नहीं हो सकता है। अतः इस अर्थावबोध हेतु वाक्यरचना विज्ञान की आवश्कता स्वतः सिद्ध है।

- **अर्थविज्ञान** (Semantics) - वाक्यों का संरचनात्मक विज्ञान पदों पर निर्भर होता है, उसी प्रकार उसका अर्थविज्ञान उन पदों में शरीर-आत्मा के समरूप अनुस्यूत होता है, जहाँ शरीर का सारतत्त्व आत्मा है, तदनुरूप भाषारूपी शरीर की आत्मा उसमें निहित अर्थ है। अर्थविज्ञान की अर्थविचार भी एक संज्ञा है, जिसमें शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध, अर्थ-निर्धारण, अर्थ-परिवर्तन इत्यादि सूक्ष्मतन्त्रों पर विचार किया जाता है। इसके अतिरिक्त अर्थविकास, अर्थसंकोच तथा अर्थादेश इनकी मूलप्रकृति को द्योतित करता है तथा इसमें

शब्दों के पर्यायवाची, नानार्थक विधान, विलोमवाची इत्यादि विधानों की प्रकृति भी वर्णित की जाती है।

निरुक्त का मौलिक प्रयोजन अर्थमीमांसा ही है पूर्वपठित इकाई में अर्थविज्ञान के महत्त्व के प्रतिपादन हेतु आचार्य यास्क के द्वारा उद्धृत उदाहरणों की विस्तृत व्याख्या की गयी है यथा - **उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु, अधेन्वा चरति मायया एष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्** (ऋग्वेद 10/74/5) अर्थात् जो वाणी के साथ अर्थ के परिज्ञान से मित्रता करता है अथवा विद्वानों द्वारा वाणी के अर्थों का बोध करता हैए उसे वाणी के लाभ को प्राप्त हुआ सम्बोधित करते हैं एवं जो वाणी के अर्थ को नहीं जानताए वह केवल शब्दरूप भाषण करता है। इस प्रकार के विभिन्न व्याख्यानों द्वारा अर्थमीमांसा के महत्त्व को परिभाषित किया गया है।

- **निर्वचनविज्ञान** (Etymology) - अर्थदृष्ट्या शब्दों की व्युत्पत्ति करना तथा उसके संरचनात्मक विज्ञान को व्याख्यायित करना निर्वचनविज्ञान का मूलकार्य है। इसे व्युत्पत्तिशास्त्र, व्युत्पत्तिविज्ञान, निर्वचनशास्त्र के रूप में भी वर्णित किया जाता है। इसमें प्रकृति के अनुसार शब्दों के सम्भावित अर्थों का अन्वेषण किया जाता है। अनेकार्थक शब्दों में प्रसंगानुसार किस अर्थविधान की निष्पत्ति हो सकती है इसका विचार करते हुये उस शब्द का निर्वचन करना ही इस शास्त्र का अभीष्ट प्रयोजन है। प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति तथा अतिपरोक्षवृत्ति के द्वारा प्रसंगानुकूल अभिव्यक्ति अर्थ को द्योतित करती है। इसके लिये शब्दों के मूलरूप का अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया जाता है। इस निर्वचनशास्त्र में व्याकरणगत मूलविषय प्रकृति-प्रत्यय के विभाग का समन्वय तो होता ही है, इसके साथ-साथ उनका अर्थपरक विज्ञान भी अनुस्यूत होता है। इसके साथ-साथ मूलप्रकृति के ज्ञान से शब्द के उद्भव एवं विकास के भी आधार प्रत्यक्ष होते हैं, जिससे उनकी ऐतिहासिक व्याख्या भी निष्पादित होती है।

वस्तुतः ऋग्वेद में ही शब्दों के निर्वचन का उत्स प्राप्त है तथा निर्वचनशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में आचार्य यास्क का नाम सुविख्यात है। इसी प्रकार काठक एवं मैत्रायणी संहिता में निर्वचन के पर्याय के रूप में निरुक्त शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। आचार्य ने निर्वचन के विभिन्न सिद्धान्तों को वैज्ञानिक दृष्टि से परिभाषित किया है। इस प्रकार यास्क प्रणीत निरुक्तशास्त्र निर्वचनशास्त्र के प्रारम्भिक शास्त्रों में सुप्रतिष्ठित है।

अभ्यास प्रश्न - 2

1. 'तद्येषु पदेषु ..... समर्थौ' इस पंक्ति को पूर्ण करें?
   - क. विकारेणान्वितौ
   - ख. प्रादेशिकेन
   - ग. स्वरसंस्कारौ
   - घ. स्याताम्
2. 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' यह किस आचार्य का कथन है?
   - क. आचार्य पाणिनि

ख. आचार्य भर्तृहरि

ग. आचार्य वररुचि

घ. आचार्य पतञ्जलि

3. 'उणादयो बहुलम्' पाणिनीय अष्टाध्यायी के किस अध्याय का सूत्र है ?

क. नवम

ख. प्रथम

ग. अष्टम

घ. तृतीय

4. अष्टाध्यायी में किस सूत्र से शब्द में व्यत्यय किया जाता है ?

क. विभाषा

ख. छन्दसि नित्यम्

ग. व्यत्ययो बहुलम्

घ. बहुलम् छन्दसि

5. व का सम्प्रसारण क्या होता है ?

क. इ

ख. उ

ग. ऋ

घ. लृ

6. दमूनस् शब्द किससे निर्मित है ?

क. दम् धातु

ख. मन् धातु

ग. मनस् शब्द

घ. दमन शब्द

7. श्रन्थ् धातु की उपधा में कौन सा वर्ण स्थित है?

क. र वर्ण

ख. न वर्ण

ग. थ वर्ण

घ. श वर्ण

8. त्मन् शब्द में किस वर्ण का लोप किया गया है?

क. आ वर्ण

ख. ज्ञा वर्ण

ग. हो वर्ण

घ. पा वर्ण

9. वर्णनाश किस पाश्चात्य भाषा विज्ञान से सम्बद्ध है ?

क. Phonology

ख. Semantics

ग. Morphology

घ. Syntax

10. उ॒त त्वं॑ स॒ख्ये स्थि॒रपी॑तमाहु॒र्नैनं॑ .... यह मन्त्र ऋग्वेद के किस मण्डल से उद्धृत है ?

क. नवम

ख. प्रथम

ग. अष्टम

घ. दशम

5.5 सारांश

पूर्वपठित इकाई में यह वर्णित किया गया है कि निरुक्त का प्रमुख प्रयोजन है अर्थमीमांसा, जिस हेतु किसी पद का सम्पूर्ण विश्लेषण करते हुये, अर्थ की दृष्टि से उसकी व्युत्पत्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया के अवबोधन के उपरान्त ही अर्थतत्त्व का विश्लेषण किया जा सकता है क्योंकि शब्द एवं अर्थ वस्तुतः अभेद्य सम्बन्ध से अनुस्यूत होते हैं, अतः उनमें अविच्छिन्नता होती है। इस प्रकार अर्थमीमांसा हेतु पदों का निर्वचन अत्यावश्यक होता है। इस हेतु आचार्य यास्क ने विविध सिद्धान्तों को व्याख्यायित किया है, जो वर्णागम, वर्णविकार, वर्णनाश इत्यादि विधानों से इस इकाई में परिभाषित किये गये हैं, ये सिद्धान्त ध्वनि, वर्ण, स्वर, व्यञ्जन के साथ साथ सम्पूर्ण पद में परिवर्तनों को परिलक्षित करते हैं जिससे उसकी अर्थ की निष्पत्ति की जा सके, यही अग्रिम व्याख्यानों में भाषाविज्ञान के रूप में प्रचलित शास्त्र के रूप में संकल्पित हो सकी।

आधुनिक भाषाविज्ञान ने अर्थमीमांसा के लिये विभिन्न अन्य अवधारणाओं को समन्वित करते हुये तथा उपर्युक्त वर्णित निरुक्त के सिद्धान्तों की एक व्यापक संकल्पना प्रस्तुत की है, ध्वनिशास्त्र तथा अर्थतत्त्व के विस्तृत सम्बन्धों को एक पृथक् रूप में वर्णित किया गया है इसी के साथ ध्वनिपरिवर्तन किस प्रकार पदों को प्रभावित करते हुये अर्थपरिवर्तन करके भाषा में व्यापकरूपेण प्रभावित भी करते हैं। इसी प्रकार रूपविज्ञान का विषय वाक्यतत्त्व के मूलाधार है, इसमें वाक्यतत्त्व से ही अर्थमीमांसा विवेचित की जाती है। वस्तुतः रूप, वाक्य एवं अर्थ ये तीनों तत्त्व परस्पर सम्बद्ध होते हैं तथा भाषा का समुचित विकास भी करते हैं।

5.6 शब्दावली

- **सम्प्रेषण** = भाव, विचार, सूचना आदि को एक इकाई से दूसरी इकाई तक पहुँचाना अथवा उससे प्रतिक्रिया प्राप्त करना।
- **अनादिनिधन** = जिसका आदि तथा अन्त परिभाषित नहीं है।
- **परावाणी** = परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी, यह चार प्रकार की वाणी वर्णित है। जिसमें परा दैवीय वाणी होती है।
- **तुरीयम्** = चतुर्थ एवं जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति के उपरान्त की अवस्था।
- **धातुज** = धातु से उत्पन्न।
- **स्थूणा** = किसी वृक्ष का तना अथवा ठूँठ।
- **आसञ्जनी** = शहतीर धारण करने वाली।
- **दर्विहोमी** = दर्वी द्वारा होम करने वाला।
- **अन्विति** = अन्वित होने का भाव, एक सूत्रात्मक समन्वय की स्थिति।
- **अजादि** = स्वरों के लिये प्रयुक्त प्रत्याहार जिसमें अ,आ,इ,ई,उ,ऊ,ऋ,ए,ऐ,ओ,औ का परिगणन होता है।
- **दमूनस्** = अग्नि का पर्यायवाची।
- **सम्प्रसारण = इग्यणः सम्प्रसारणम्** (पा०सू० 1/1/45) यण् का अर्थात् य,र,ल,व के स्थान पर इक् अर्थात् इ,उ,ऋ,ऌ होने की संज्ञा सम्प्रसारण है।
- **आगम** = किसी वर्ण के साथ यथाकाल उसे परिवर्तित न करते हुये अन्य वर्ण संयुक्त हो जाता है उसे आगम कहते हैं - **मित्रवदागमः**।
- **उपधा** = **अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा** (पा०सू० 1/1/65) किसी शब्द के अन्तिम वर्ण से पूर्व स्थित वर्ण की उपधा संज्ञा होती है। यथा पच् धातु (प्+अ+च्) में अन्तिम वर्ण चकार तथा इसके पूर्व का वर्ण है अकार इसकी उपधा संज्ञा होगी।
- **विपर्यय** = एक वस्तु का द्वितीय वस्तु के स्थान पर तथा द्वितीय वस्तु का प्रथम के स्थान पर व्यतिक्रम होना।

5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1 - 1. घ, 2. ग, 3. ख, 4. ग, 5. ख, 6. ग, 7. ख, 8. ग, 9. घ, 10. ग।

अभ्यास प्रश्न 2 - 1. ग, 2. घ, 3. घ, 4. ग, 5. ख, 6. क, 7. ख, 8. क, 9. क, 10. घ।

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

- निरुक्त - यास्क : (सम्पादक) प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2001
- निरुक्त पञ्चाध्यायी : (व्याख्याकार) महामहोपाध्याय छज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1985
- निरुक्त – यास्क : टीकाद्वय-सहित (सम्पादक) लक्ष्मणसरूप, भाग I&II, दिल्ली, 1982
- निरुक्त के पाँच अध्याय : (सम्पादक एवं अनुवादक) पं० शिवनारायण शास्त्री, इंडोलोजिकल बुक हाऊस, दिल्ली, 1972
- निरुक्तम् : (सम्पादक) डॉ. जमुना पाठक, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी।
- निरुक्तम् (निरुक्तविवृत्ति सहितम्) : (टीकाकार) मुकुन्द झा, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
- यास्कप्रणीतम् निरुक्तम् - डॉ. देवेन्द्रनाथ पाण्डेय, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 1999
- वैदिक साहित्य एवं संस्कृति - आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, वाराणसी, 1955
- Winternitz, Mourice : History of Indian Literature, Vol. 1, Pt. 1-2 (Translated into English by V. Srinivasa Sharma), M.L.B.D., Delhi, 1988.

5.9 बोध प्रश्न

1. निरुक्त द्वारा उक्त अर्थविज्ञान के महत्त्व की व्याख्या प्रस्तुत करें
2. निरुक्त धातुज सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये
3. व्याकरणशास्त्र तथा निरुक्त के अन्तःसम्बन्ध को परिभाषित कीजिये
4. पदविज्ञान के अन्तर्गत पदों के विभागों को प्रतिपादित कीजिये
5. निरुक्त में उक्त ध्वनिशास्त्र की व्याख्या प्रस्तुत कीजिए
6. भाषाशास्त्र के किन्हीं तीन उपाङ्गों की व्याख्या कीजिये